কৃষ্ণকান্ত সন্দিকৈ ৰাজ্যিক মুক্ত বিশ্ববিদ্যালয়

Krishna Kanta Handiqui State Open University

Master Degree

SELF LEARNING MATERIAL

PG HN S3-01 (DSC)

SEMESTER III

हिंदी आलोचना एवं आधुनिक विमर्श

HINDI

PG HN S3-01(DSC)

TWO YEAR MASTER'S DEGREE COURSE

(CBCS in Accordance with NEP 2020)

SEMESTER- III

हिंदी आलोचना एवं आधुनिक विमर्श

हिंदी

PadmanathGohainbaruah School of Humanities
KRISHNA KANTA HANDIQUI STATE OPEN UNIVERSITY

विषय विशेषज्ञ

प्रोफेसर दिलीप कुमार मेधी, हिंदी विभाग, गौहाटी विश्वविद्यालय, असम
प्रोफेसर अमूल्य बर्मन, हिंदी विभाग, कॉटन विश्वविद्यालय (सेवानिवृत विभागाध्यक्ष)
प्रोफेसर भूषण पाठक, अध्यक्ष, बी.एस.कॉलेज, हाउली, बरपेटा

पाठयक्रम समन्वयक : डॉ. प्रांजल कुमार नाथ, सहायक अध्यापक, कृष्णकांत हेंदिक राज्यिक मुक्त विश्वविद्यालय, असम, डॉ. उज्जवल डेका बरूआ, कृष्णकांत हेंदिक राज्यिक मुक्त विश्वविद्यालय

एसएलएम् तैयारी टीम

इकाइयाँ	योगदानकर्ताओं के नाम
1-6	डॉ. प्रांजल कुमार नाथ, सहायक अध्यापक, कृष्णकांत हेंदिक राज्यिक मुक्त विश्वविद्यालय, डॉ. टिंकू छेत्री, सहायक अध्यापिका कृष्णकांत हेंदिक राज्यिक मुक्त विश्वविद्यालय
7-14	परीक्षित नाथ, सहायक अध्यापक दुमदुमा महाविद्यालय, टिंकू छेत्री, सहायक अध्यापिका, कृष्णकांत हेंदिक राज्यिक मुक्त विश्वविद्यालय

Editors

Content : प्रांजल कुमार नाथ,सहायक अध्यापक, कृष्णकांत हेंदिक राज्यिक मुक्त विश्वविद्यालय, असम, डॉ. सुरभि चुतिया, सहायक अध्यापिका, कृष्णकांत हेंदिक राज्यिक मुक्त विश्वविद्यालय

Language : डॉ. नवकांत दास,सहायक अध्यापक एवं विभागाध्यक्ष, रंगापारा महाविद्यालय, डॉ. उज्जवल डेका बरूआ कृष्णकांत हेंदिक राज्यिक मुक्त विश्वविद्यालय

Structure & Format : डॉ. प्रांजल कुमार नाथ, कृष्णकांत हेंदिक राज्यिक मुक्त विश्वविद्यालय, असम
डॉ. टिंकू छेत्री, सहायक अध्यापिका, कृष्णकांत हेंदिक राज्यिक मुक्त विश्वविद्यालय

July, 2025

This Self Learning Material (SLM) of the Krishna Kanta Handiqui State Open University is made available under a Creative Commons Attribution-Non Commercial-Share Alike 4.0 License (international) http://creativecommons.org/licenses/by-nc-sa/4.0/

Printed and published by Registrar on behalf of the Krishna Kanta Handiqui State Open University.

Headquarters: Patgaon, Rani Gate, Guwahati - 781 017
City Campus: Resham Nagar, Khanapara, Guwahati - 781 006;
www.kkhsou.in

अनुक्रमणिका

Page no

इकाई : 1 **आलोचना अर्थ, परिभाषा एवं महत्व** 9–22
आलोचना का अर्थ, परिभाषा, भारतीय विद्वानों के मत, पाश्चात्य विद्वानों के मत, साहित्य और आलोचना के अंत:संबंध

इकाई : 2 **आलोचना स्वरूप, प्रकार एवं दृष्टियाँ** 23–37
आलोचना के स्वरूप, प्रकार, दृष्टियाँ

इकाई : 3 **हिंदी आलोचना उद्भव और विकास** 38–52
हिंदी आलोचना के उद्भव, हिंदी आलोचना के विकास

इकाई : 4 **आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचनात्मक दृष्टि** 53–65
शुक्ल का सामान्य परिचय, उनके आलोचनात्मक दृष्टि, उनके आलोचना का महत्व

इकाई : 5 **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का आलोचनात्मक दृष्टि** 66–80
द्विवेदी का सामान्य परिचय, उनके आलोचनात्मक दृष्टि, शुक्ल और द्विवेदी की आलोचना–दृष्टि में साम्य–वैषम्य

इकाई : 6 **नन्ददुलारे वाजपेयी की आलोचनात्मक दृष्टि** 81–94
नन्ददुलारे वाजपेयी जी का सामान्य परिचय, उनके आलोचनात्मक दृष्टि

इकाई : 7 **रामविलास शर्मा की आलोचनात्मक दृष्टि** 95–109
रामविलास शर्मा का सामान्य परिचय, उनके आलोचनात्मक दृष्टि का स्वरूप, रामविलास शर्मा की आलोचना–दृष्टि का महत्त्व

इकाई : 8 **नामवर सिंह की आलोचनात्मक दृष्टि** 110–123
नामवर सिंह का सामान्य परिचय, उनके आलोचनात्मक दृष्टि, हिंदी आलोचना और नामवर सिंह का महत्व

इकाई : 9 **नगेन्द्र की आलोचनात्मक दृष्टि** 124–137
नगेन्द्र जी का सामान्य परिचय, उनके आलोचनात्मक दृष्टि

इकाई : 10 मार्क्सवादी आलोचक शिवदान सिंह चौहान **138–153**
शिवदान सिंह चौहान जी का सामान्य परिचय, उनके आलोचनात्मक दृष्टि
इकाई : 11 स्त्री विमर्श **154–170**
स्त्री विमर्श की अवधारण, स्वरूप एवं विकास
इकाई : 12 दलित विमर्श **171–185**
दलित विमर्श की अवधारणा, दलित और दलित शब्द की परिभाषा, उद्भव और विकास
इकाई : 13 आदिवासी विमर्श **186–199**
आदिवासी विमर्श की अवधारणा, उद्भव और विकास
इकाई : 14 किन्नर विमर्श **200–212**
किन्नर विमर्श की अवधारणा और स्वरूप, उद्भव और विकास, भारतीय साहित्य में किन्नर विमर्श और उसका प्रभाव

विषय प्रवेश

हिंदी आलोचना एवं आधुनिक विमर्च शीर्षक से प्रस्तुत यह पाठ्यक्रम, कृष्णकांत हेदिक राज्यिक मुक्त विश्वविद्यालय के एम.ए. (हिंदी) दि वर्षीय कार्यक्रम के तृतीय सेमेस्टर का सातवाँ मूल-पत्र है। पत्र के शीर्षकानुसार इसकी विषयवस्तु हिंदी आलोचना की परंपरा तथा समकालीन विमर्शी के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आयामों से संबंधित है। इस पत्र में कुल चौदह इकाइयाँ समाविष्ट है, जिनमें आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य और आधुनिक विमर्शधाराओं का क्रमिक एवं सुनियोजित अध्ययन कराया जाता है। यह एक ऐसा अध्ययन क्षेत्र है, जो साहित्यिक रचनाओं की गहराई में जाकर उनके सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं दार्शनिक संदर्भों की विवेचना करता है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर इक्कीसवीं सदी तक, हिंदी आलोचना ने केवल साहित्य की कलात्मकता पर नहीं, बल्कि उसमें अंतर्निहित सत्ता, वर्ग, जाति, लिंग, भाषा और संस्कृति जैसे विविध विमर्शों पर भी गंभीर संवाद स्थापित किया है। आधुनिक विमर्शों-जैसे स्त्रीवाद, दलित विमर्श, उत्तर-औपनिवेशिकता, उत्तर-आधुनिकता, और पर्यावरणीय आलोचना-ने साहित्य को देखने का दृष्टिकोण ही बदल दिया है। इस पुस्तक में इन विमर्शों की सैद्धांतिक समझ के साथ-साथ उनके व्यावहारिक प्रयोग को भी स्पष्ट किया गया है, जिससे पाठक समकालीन आलोचना की बहुआयामी प्रवृत्तियों को समझ सके। यह ग्रंथ छात्रों, शोधार्थियों और हिंदी साहित्य के गंभीर पाठकों के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत सिद्ध होगा। उद्देश्य केवल जानकारी देना नहीं, बल्कि विद्यार्थियों को चिंतन और संवाद के लिए प्रेरित करना भी है। इस प्रकार यह पुस्तक आलोचना को केवल शास्त्र नहीं, बल्कि एक सक्रिय बौद्धिक प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करती है। साथ ही यहाँ प्रत्येक इकाई में महत्वपूर्ण बिंदु , प्रगति जाँच, प्रगति विवरण नाम से शीर्षक प्रस्तुत हैं, जिसके द्वारा विद्यार्थियों ज्ञान प्राप्त करने के साथ ही इकाई से सम्बंधित प्रश्नों को हल करने में सक्षम होंगे।

इकाई 1- इस आलोचना: अर्थ, 'परिभाषा एवं महत्व' इकाई में आलोचना का शाब्दिक अर्थ, विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएँ तथा साहित्यिक आलोचना का उद्देश्य स्पष्ट होता है। यह इकाई विद्यार्थियों को साहित्य का मूल्यांकन करने, लेखक की शैली,भाव और दृष्टिकोण को समझने की दृष्टि प्रदान करती है। आलोचनात्मक दृष्टिकोण विकसित कर यह इकाई विद्यार्थियों की विश्लेषण क्षमता बढ़ाती है, जिससे वे साहित्यिक कृतियों का गहन अध्ययन कर पाते हैं। अंतिम में सारांश, प्रगति विवरण(केवल रूपरेख), अधिक जानने के लिए पढ़े एवं कुछ अभ्यास प्रश्न दिया गया है। जिसे पढ़कर शिक्षार्थी आलोचना के अर्थ एवं महत्व को विस्तारित रूप में समझ सकेंगे।

इकाई 2- प्रस्तुत इकाई 'आलोचना: स्वरूप, प्रकार और दृष्टियाँ' में आलोचना के विभिन्न स्वरूपों जैसे सृजनात्मक, मूल्यांकनात्मक, व्याख्यात्मक आदि का अध्ययन कराया जाता है। साथ ही विभिन्न आलोचनात्मक दृष्टियों जैसे ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और स्त्रीवादी दृष्टि की समझ विकसित की जाती है। यह इकाई विद्यार्थियों को साहित्यिक कृतियों को विविध कोणों से देखने की दृष्टि देती है,

जिससे उनकी विश्लेषणात्मक क्षमता, आलोचनात्मक सोच और साहित्यिक समझ में अभिवृद्धि होती है। जिसे पढ़कर शिक्षार्थी इस इकाई के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे एवं दिए गए प्रश्न को सुलझा सकेंगे ।

इकाई 3- 'हिंदी आलोचना: उद्भव और विकास' इकाई में हिंदी साहित्य में आलोचना की प्रारंभिक अवस्था से लेकर आधुनिक काल तक के विकास की क्रमबद्ध जानकारी दी जाती है। इसमें प्रमुख आलोचकों, उनके योगदान और आलोचनात्मक प्रवृत्तियों का विश्लेषण शामिल है। यह इकाई विद्यार्थियों को हिंदी आलोचना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, प्रवृत्तियों और परिवर्तनशील प्रकृति को समझने में सहायता करती है, जिससे उनकी साहित्यिक दृष्टि व्यापक होती है और वे समकालीन आलोचना को बेहतर ढंग से समझ पाते हैं। इस इकाई को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर छात्र न केवल विषय को गहराई से समझ पाएंगे, बल्कि उससे जुड़े सभी प्रश्नों का समाधान भी प्राप्त कर सकेंगे ।

इकाई 4- 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचनात्मक दृष्टि' इकाई में शुक्ल जी के साहित्यिक विचार, ऐतिहासिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण, तात्त्विकता और वस्तुपरकता की विशेषताओं का अध्ययन होता है। इस इकाई में उनकी प्रमुख आलोचनात्मक कृतियों एवं उनके साहित्य मूल्यांकन के मापदंडों पर चर्चा की जाती है। विद्यार्थियों को इससे हिंदी आलोचना के आधारभूत सिद्धांतों की गहरी समझ मिलती है, साथ ही वे आलोचना को विश्लेषणात्मक एवं तार्किक दृष्टि से देखने में सक्षम होते हैं। इकाई में सम्मिलित विविध बिंदुओं को पढ़कर शिक्षार्थी ज्ञान प्राप्त करने के साथ ही सम्बंधित प्रश्नों का हल करने में सक्षम होंगे ।

इकाई 5- प्रस्तुत इकाई 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचनात्मक दृष्टि' में उनकी आलोचना शैली, रचनात्मकता, सांस्कृतिक दृष्टिकोण, ऐतिहासिक चेतना और व्यक्तित्व-केंद्रित विश्लेषण का अध्ययन किया जाता है। वे आलोचना में दर्शन, इतिहास और साहित्य का समन्वय करते हैं। इस इकाई से विद्यार्थी न केवल द्विवेदी जी की आलोचनात्मक गहराई को समझते हैं, बल्कि आलोचना को एक सृजनात्मक क्रिया के रूप में देखने की दृष्टि भी विकसित करते हैं, जिससे उनकी साहित्यिक सोच और विश्लेषण क्षमता समृद्ध होती है। सारांश, प्रगति विवरण(केवल रूपरेखा), अधिक जानने के लिए पढ़े एवं अंत में अभ्यास प्रश्न दिया गया है। जिसे पढ़कर शिक्षार्थी इस इकाई के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे एवं दिए गए प्रश्न को सुलझा सकेंगे।

इकाई 6- 'नंददुलारे बाजपेयी की आलोचनात्मक दृष्टि' इकाई में उनके वस्तुनिष्ठ, संतुलित और सिद्धांतपरक आलोचना दृष्टिकोण का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। वे आलोचना में तर्क,अनुशासन और शास्त्रीयता के पक्षधर थे। इस इकाई में उनके आलोचनात्मक लेखन, प्रमुख कृतियाँ और साहित्यिक मूल्यांकन की शैली को समझाया जाता है। इससे विद्यार्थियों को विश्लेषण की स्पष्टता, साहित्य के वस्तुपरक मूल्यांकन तथा हिंदी आलोचना के गहन अध्ययन की प्रेरणा मिलती है, जिससे उनकी आलोचनात्मक दृष्टि विकसित होती है। इसका अध्ययन छात्रों को इकाई से संबंधित संपूर्ण जानकारी देगा और वे प्रश्नों के उत्तर आसानी से दे सकेंगे।

इकाई 7- 'रामविलास शर्मा की आलोचनात्मक दृष्टि' में उनके मार्क्सवादी दृष्टिकोण, इतिहासबोध, भाषाशास्त्रीय विश्लेषण तथा साहित्य के सामाजिक सरोकारों पर बल देने वाली आलोचना का विवेचन हुआ है। वे साहित्य को समाज और राजनीति से जोड़कर देखते हैं। इस इकाई से विद्यार्थी साहित्यिक कृतियों को सामाजिक, ऐतिहासिक और वैचारिक संदर्भों में विश्लेषित करना सीखते हैं। इससे उनकी आलोचनात्मक सोच विकसित होती है और वे साहित्य का मूल्यांकन अधिक व्यापक एवं गहराई से करने में सक्षम बनते हैं। सारांश, प्रगति विवरण(केवल रूपरेखा), अधिक जानने के लिए पढ़े एवं अंत में अभ्यास प्रश्न दिया गया है। जिसे पढ़कर शिक्षार्थी इस इकाई के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे एवं दिए गए प्रश्न को सुलझा सकेंगे।

इकाई 8 - 'नामवर सिंह की आलोचनात्मक दृष्टि' में उनकी आलोचना में निहित वैचारिक गहराई, इतिहास-बोध, नवीन दृष्टिकोण और साहित्य के सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों की समीक्षा की गई है। वे परंपरा और आधुनिकता के बीच संवाद स्थापित करते हैं तथा आलोचना को विचारधारा से जोड़ते हैं। इस इकाई से विद्यार्थियों को साहित्य के गहरे अध्ययन की दृष्टि मिलती है, वे आलोचना को विश्लेषण और विचार की प्रक्रिया के रूप में समझते हैं, जिससे उनकी आलोचनात्मक एवं बौद्धिक क्षमता विकसित होती है। जिसे पढ़कर शिक्षार्थी इस इकाई के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे और विविध प्रश्नों का हल करने में सक्षम होंगे ।

इकाई 9- 'डॉ. नगेंद्र की आलोचनात्मक दृष्टि' में उनके मनोविश्लेषणात्मक,सौंदर्यपरक और समन्वयवादी दृष्टिकोण का विवेचन किया गया है। उनकी आलोचना में साहित्य के भाव, कला और मनोविज्ञान के समन्वय पर विशेष बल दिया गया है। उनकी आलोचना में संतुलन, तार्किकता और शैलीगत परिष्कार प्रमुख हैं। इस इकाई से विद्यार्थी साहित्य को गहराई से समझने, भावों की व्याख्या करने और सौंदर्यात्मक दृष्टि विकसित करने में सक्षम होते हैं, जिससे उनकी विश्लेषण क्षमता एवं साहित्यिक समझ में अभिवृद्धि होती है। पाठ के अंत तक शिक्षार्थी इस इकाई की मुख्य अवधारणाओं को समझ पाएंगे और संबंधित प्रश्नों का समाधान कर सकेंगे।

इकाई 10- 'मार्क्सवादी आलोचक शिवदानसिंह चौहान' में उनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण, वर्गचेतना, यथार्थवाद तथा साहित्य के सामाजिक सरोकारों पर आधारित चिंतन का विवेचन प्रस्तुत हुआ है। वे साहित्य को समाज परिवर्तन के उपकरण के रूप में देखते हैं और शोषित वर्ग की आवाज़ को प्रमुखता देते हैं। इस इकाई से विद्यार्थियों को साहित्य का वर्गीय विश्लेषण करना, सामाजिक विषमता को समझना और आलोचना को विचारधारात्मक परिप्रेक्ष्य में देखने की दृष्टि प्राप्त होती है, जिससे उनकी सामाजिक-साहित्यिक समझ विकसित होती है। अधिक जानने के लिए पढ़े एवं कुछ अभ्यास प्रश्न इकाई के अंत में दिया गया है। जिसे पढ़कर शिक्षार्थी मार्क्सवाद तथा शिवदानसिंह चौहान के बारे में जानेंगे और प्रत्येक प्रश्न का उत्तर आसानी से दे पाएंगे।

इकाई 11- 'स्त्री विमर्श' इकाई में नारीवाद, लैंगिकता, स्त्री सशक्तिकरण, और महिलाओं के

सामाजिक–आर्थिक एवं सांस्कृतिक मुद्दों पर चर्चा की गयी है। इसमें स्त्री जीवन के विविध पहलुओं, उत्पीड़न, अधिकारों और स्वतंत्रता की चर्चा होती है। इस इकाई से विद्यार्थी स्त्री विमर्श के विभिन्न सिद्धांतों और दृष्टिकोणों को समझते हैं, जैसे फेमिनिज्म, समलैंगिकता और अंतरलैंगिकता। यह इकाई विद्यार्थियों को समाज में लिंगभेद और असमानता को पहचानने, जागरूक होने और समतामूलक सोच विकसित करने में मदद करती है, जिससे उनकी सामाजिक संवेदनशीलता और आलोचनात्मक दृष्टि बढ़ती है। इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को परीक्षाओं में पूछे जाने वाले विविध प्रश्नों को आत्मविश्वासपूर्वक हल करने में सहायता मिलेगी।

इकाई 12– 'दलित विमर्श' इकाई में दलित समाज के इतिहास, सामाजिक–सांस्कृतिक स्थिति, उत्पीड़न और विरोध आंदोलनों का अध्ययन किया गया है। इसमें दलित साहित्य, संघर्ष और मुक्ति की अवधारणा, साथ ही समतामूलक दृष्टिकोण पर भी ध्यान दिया जाता है। इस इकाई से विद्यार्थी दलितों के सामाजिक अन्याय, उनके संघर्ष और संघर्ष के महत्व को समझते हैं। इससे उनकी सामाजिक न्याय की भावना जागृत होती है और वे विभिन्न वर्गीय विषमताओं को पहचानकर समावेशी सोच विकसित करते हैं, जो सामाजिक परिवर्तन और संवेदनशीलता को बढ़ावा देता है। साथ ही इस इकाई का अध्ययन कर शिक्षार्थी आवश्यक ज्ञान अर्जित करेंगे तथा प्रश्नों को सही ढंग से हल करने की योग्यता प्राप्त करेंगे।

इकाई 13– 'आदिवासी विमर्श' इकाई में भारत के आदिवासी समाज का इतिहास, संस्कृति, जीवनशैली, और उनके संघर्षों का अध्ययन किया जाता है। इसमें आदिवासी पहचान, भूमि अधिकार, विकास की चुनौतियाँ, और उनके सामाजिक–राजनीतिक आंदोलन शामिल हैं। इस इकाई से विद्यार्थी आदिवासियों की विशिष्ट सांस्कृतिक धरोहर को समझते हैं और उनके उत्पीड़न, भेदभाव तथा उनके उत्थान के प्रयासों के प्रति जागरूक होते हैं। इससे उनकी सामाजिक संवेदनशीलता बढ़ती है और वे विविधता में एकता के महत्व को समझकर समावेशी दृष्टिकोण विकसित करते हैं। साथ ही विषय की मूल अवधारणाओं को आत्मसात करेंगे और उनका उपयोग प्रश्नों को हल करने में कर पाएंगे।

इकाई 14– 'किन्नर विमर्श' इकाई में किन्नरों के सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पहलुओं का अध्ययन किया जाता है। इसमें उनकी पहचान, संघर्ष, भेदभाव, अधिकारों की माँग और समावेशन की आवश्यकता पर चर्चा होती है। यह इकाई लैंगिक विविधता और पहचान के सवालों को समझने में मदद करती है। विद्यार्थियों को इससे किन्नरों के जीवन की जटिलताओं का ज्ञान मिलता है और वे समाज में लैंगिक समानता और सम्मान के महत्व को समझते हैं। इससे उनकी सहिष्णुता, संवेदनशीलता और समावेशी सोच विकसित होती है। जब छात्र इस इकाई को पढ़ेंगे, तो वे इसके बारे में बेहतर समझ विकसित कर पाएंगे और उससे जुड़े प्रश्नों को हल करने में भी सक्षम हो जाएंगे।

******

इकाई 1 : आलोचना अर्थ, परिभाषा एवं महत्व

इकाई की रूपरेखा

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 आलोचना का अर्थ

1.4 परिभाषा

1.4.1 भारतीय विद्वानों के मत

1.4.2 पाश्चात्य विद्वानों के मत

1.5 आलोचना का महत्व

1.6 साहित्य और आलोचना के अंतः संबंध

1.7 सारांश

1.8 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

1.9 अधिक जानने के लिए पढ़ें

1.10 अभ्यास प्रश्न

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के अभ्यायन से आप

- आलोचना के अर्थ और तात्पर्य से परिचय प्राप्त करेंगे।
- आलोचना के विभिन्न परिभाषाओं को ज्ञान पाएंगे।
- आलोचना के महत्व को समझ सकेंगे।
- आलोचना और साहित्य के अंतः संबंधको आसानी से समझ पाएंगे।
- समकालीन आलोचना से अवगत ही सकेंगे।

1.2 प्रस्तावना

साहित्यिक जगत में ''आलोचना'' एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, जो साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन, विश्लेषण एवं विवेचन का कार्य करती है। आलोचना का मूल उद्देश्य किसी साहित्यिक रचना की गहराई, उसकी कलात्मकता, सामाजिक सरोकार, भावात्मक प्रभाव और यथार्थ चित्रण की गुणवत्ता को समझना एवं समझाना होता है। आलोचना न केवल पाठक को किसी रचना के प्रति उचित दृष्टिकोण प्रदान करती है, बल्कि लेखक को भी रचनात्मक दिशा

देने का कार्य करती है। संसार में कर्म प्रकाशन के साथ-साथ भाव-प्रकाशन भी चलता रहता है और बाहरी दुनिया हमारे हृदय में समा जाती है और हमारे अंदर की अनुभूतियों का हिस्सा बन जाती है। इस प्रवाह को पकड़ रखने के लिए ही दीर्घकाल से मनुष्य के अंदर साहित्य का आवेग है। साहित्य में हम उस मनुष्य का परिचय पाते हैं, जो अपनी सीमा को लाँघने का भी साहस कई बार करता है। आलोचना का उद्देश्य यही खोज निकालना है कि कवि या लेखक की कल्पना में मनुष्य के हृदय के किस विशेष रूप ने घनीभूत होकर अपने अनन्त वैचित्र्य के प्रकाश को सौंदर्य द्वारा प्रस्फुटित किया है। भाषा, रस, अलंकार आदि परखना ही पर्याप्त आलोचना नहीं है। आलोचना के बहुआयामी परिदृश्य में एक यह भी है कि कवि या लेखक की कृति में मानव हृदय कितना और किस सुन्दरता के साथ चित्रित हुआ है, इस तथ्य का उद्घाटन करना है। वास्तव में साहित्य में बिखरी हुई अनंत विभूतियों की सुन्दरता बिना आलोचना के नजर नहीं आती।

हिंदी की विभिन्न विधाओं की तरह आलोचना का भी विकास आधुनिक काल ही माना जाता है। जिसका मूल कार्य साहित्यिक कृतियों का विश्लेषणपरक व्याख्या प्रस्तुत करना है। रुचि, परम्परागत सोच, पूर्व अवधारणा, व्यक्तिगत निंदा या प्रशंसा से परे होकर साहित्यकार जीवन और अनुभव के जिन तत्वों के विश्लेषण से साहित्य की रचना करता है, आलोचना उन्हीं तत्वों की विवेचन करती है। अपितु, आलोचना के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि साहित्य में जहाँ राग तत्व की प्रधानता होती है, वहीं आलोचना में बुद्धि तत्व की प्रधानता होती है।

आलोचना ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों का आकलन करती है और साहित्य पर उसके पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना करती है। अगर पूछा जाए, हिन्दी आलोचना का विधिवत आरम्भ कब से माना गया है? तो कहा जा सकता है कि, आधुनिक काल में खड़ी बोली के साथ-साथ आलोचना साहित्य का भी विकास हुआ था, हालाँकि ब्रजभाषा में संस्कृत काव्यशास्त्रा की मान्यताओं से हिन्दी कविता तब तक परिचित हो चुकी थी। हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी आलोचना की नींव रखी। उनके पश्चात आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसका विस्तार किया। बाद में धीरे-धीरे हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना, प्राचीन काव्यशास्त्रीय आलोचना और आधुनिकतावादी आलोचना भी सामने आया।

असल में आलोचना को रचनाकार और कृति दोनों के गुण-दोषों की परख करने वाला शास्त्र माना गया है। रचना की विश्लेषण और व्याख्या के माध्यम से उसकी आतंरिक संवेदना तथा सौंदर्य को उद्घाटित करकृति की उपादेय पर प्रकाश डालना ही आलोचना का प्रमुख कार्य है। आलोचना का महत्व इसलिए भी अधिक है क्योंकि यह साहित्य को दिशा देती है, पाठकों को संवेदनशील बनाती है, तथा समाज के समक्ष साहित्य की प्रासंगिकता को स्पष्ट करती है। आलोचना, साहित्यिक संवाद की आत्मा है-जो रचना को केवल पाठ नहीं, बल्कि अनुभव बनाती है।

1.3 आलोचना का अर्थ

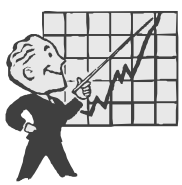
'आलोचना' का अर्थ है- देखना, व्याख्या करना अथवा मूल्यांकन करना। आलोचना शब्द 'लोच्' धातु से बना है, लोच का अर्थ है देखना। अत: आलोचना का अर्थ है किसी वस्तु या कृति की सम्यक् व्याख्या, उसका मूल्यांकन आदि। इसी अर्थ में 'समीक्षा' और 'समालोचना' शब्द भी प्रयोग होता है। अर्थात् किसी विषय, व्यक्ति, रचना, कार्य या विचार का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करना। यह केवल नकारात्मक टिप्पणियों तक सीमित नहीं होती, बल्कि इसके अंतर्गत सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलुओं का विश्लेषण किया जाता है। आलोचना का उद्देश्य किसी वस्तु या विचार की गुणवत्ता, प्रभाव, उद्देश्य और उपयोगिता को समझना तथा उसे और बेहतर बनाना होता है। साहित्य के क्षेत्र में आलोचना एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, जो न केवल पाठक को किसी रचना को समझने में सहायता करती है, बल्कि रचनाकार को भी अपनी रचना के प्रभाव और सीमाओं से अवगत कराती है।

आलोचना का स्वरूप व्यापक और बहुआयामी होता है। यह केवल काव्य या गद्य तक सीमित नहीं रहती, बल्कि समाज, संस्कृति, राजनीति और जीवन मूल्यों से भी जुड़ी होती है। आलोचना रचनात्मकता को दिशा देती है, पाठकों को समझ विकसित करने में मदद करती है और साहित्यिक विकास को प्रेरित करती है। किसी युग में जब साहित्य केवल मनोरंजन का साधन माना जाता था, तब आलोचना का दायरा सीमित था। लेकिन जैसे-जैसे साहित्य का समाज से गहरा संबंध स्थापित हुआ, वैसे-वैसे आलोचना का स्वरूप भी अधिक व्यापक, बहुआयामी और दार्शनिक होता गया। अब आलोचना केवल साहित्यिक

सौंदर्य तक सीमित नहीं रही, बल्कि उसने समाज, राजनीति, इतिहास, संस्कृति, मनोविज्ञान और वर्ग चेतना जैसे अनेक पहलुओं को भी अपने दायरे में शामिल कर लिया है।

अंग्रेजी के 'क्रिटिसिज्म' शब्द के समानार्थी रूप में 'आलोचना' का व्यवहार होता है। संस्कृत में प्रचलित 'टीका-व्याख्या' और 'काव्य-सिद्धान्तनिरूपण' के लिए भी आलोचना शब्द का प्रयोग कर लिया जाता है किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का स्पष्ट मत है, कि आधुनिक आलोचना, संस्कृत के काव्य-सिद्धान्तनिरूपण से स्वतंत्र चीज़ है। आलोचना का कार्य है किसी साहित्यक रचना की अच्छी तरह परीक्षा करके उसके रूप, गुण और अर्थव्यस्था का निर्धारण करना।

मूलत: सृजन भाषा, भाव और विचार का विन्यास है जबकि आलोचना इस विन्यास का सम्यक और वस्तुनिष्ठ विवेचन है । भाषा-प्रयोक्ता समाज-सृजन के अनेक आवेगकारी और उत्तेजक क्षणों में शब्दों का अपव्यय करता है। आलोचना सर्जक समाज को अपव्यय से बचाकर मितव्ययी बनाती है। सर्जक के पास शब्द सहज ढंग से आते हैं, आलोचक शब्दों का आमंत्रण करता है। एक सृजनशील समाज संवेदनशील हो सकता है, लेकिन संवेदना को सृजन में सार्थक करने का विवेक आलोचक के पास होता है, सर्जक समाज की उपस्थिति के प्रति उदासीन होकर केवल कलात्मक उत्कर्ष के प्रति ही सचेतन रह सकता है किन्तु आलोचक के समक्ष सर्जक और सृजन के अतिरिक्त एक पाठक-समाज, एक तार्किक समाज और एक प्रकार का प्रश्नाकुल समाज मौजूद रहता है। इसलिए साहित्य कितनी भी क्लासिकी उत्कृष्टता का मानक हो, किन्तु आलोचक की प्रज्ञा उसकी आंतरिक शक्ति और दुर्बलता दोनों के ही सूत्र खोज लेती है। इसलिए सृजन-आधारित आलोचना की दृष्टि वस्तुगत दृष्टि होती है।



अपनी प्रगति जांचें

प्रश्न संख्या 1. 'आलोचना' शब्द किस धातु से बना है?

प्रश्न संझ्या 2. संस्कृत में प्रचलित 'टीका-व्याख्या' और 'काव्य-सिद्धान्तनिरूपण' के लिए हिंदी में कौन सा पर्यायवाची शब्द प्रयोग किया जाता है?

प्रश्न संख्या 3. आलोचना से क्या तात्पर्य है?

प्रश्न संख्या 4. हिंदी के दो प्रसिद्ध आलोचक के नाम लिखिए?

प्रश्न संख्या 5. आलोचना को कौन सा शास्त्र माना गया है ?

आलोचना के सन्दर्भ में अंग्रेजी में प्रचलित तीनों शब्द- 'क्रिटिसिज्म'(Criticism), 'रिव्यु' (Review)और 'ओपिनियन' (Opinion) समान अर्थ में प्रयोग होते है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का स्पष्ट मत है कि आधुनिक आलोचना, संस्कृत के काव्य-सिद्धान्तनिरूपण से स्वतंत्र है। आलोचना का कार्य है किसी साहित्यक रचना की अच्छी तरह परीक्षा करके उसके रूप, गुण और अर्थव्यस्था का निर्धारण करना।



महत्वपूर्ण बिंदु

साहित्य के विश्व प्रसिद्ध आलोचक 'रोमन याकोब्सन' ने आलोचना के सन्दर्भ में यह कहा कि ''अगर मनुष्य ना होता, तब भी यह दुनिया होती। इसी तरह आलोचना के नहीं होने पर भी साहित्य होता, लेकिन मनुष्य के होने से यह दुनिया सुंदर और बेहतर बनी है। इसी प्रकार आलोचना के होने से ही साहित्य विकासशील, सामयिक और वैविध्यपूर्ण बना है।'' प्रकृत अर्थ में आलोचना साहित्य के स्वरूप को यथोचित परिवर्तन कर उसे उस योग्य बनाती है जहाँ उसे होना चाहिए होता है।

1.4 परिभाषा

आलोचना के संबंध में शब्दकोश और भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों में अपने अनुसार मत प्रकट किए हैं, जो निम्नलिखित हैं-

1.4.1 हिंदी शब्दकोश के अनुसार-

वर्धा हिंदी शब्दकोश के अनुसार-''1.गुण-दोष की परख; खूबियाँ-खामियों का विवेचन; समीक्षा 2.देखना; अवलोकन करना 3. दर्शन करना।''

हिंदी शब्दकोश के अनुसार- ''किसी विषय, रचना, व्यवहार आदि की समीक्षा; दोष और गुणों का विवेचन करना; समालोचना।''

शब्दसागर शब्दकोश के अनुसार- ''किसी विषय या रचना की विवेचनात्मक समालोचना करना; गुण-दोषों की समीक्षा।''

ओक्सफोर्ड हिंदी शब्दकोश-''किसी साहित्यिक कृति या विचार की समालोचना करना; विवेचना; आलोचनात्मक समीक्षा।''

1.4.2 भारतीय विद्वानों के मतः

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार- ''साहित्य जीवन की व्याख्या है और आलोचना साहित्य की व्याख्या है।''

डॉ. श्यामसुंदर के शब्दों में- ''यदि साहित्य को जीवन की व्याख्या मानते हैं तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना होगा।''

बाबू गुलाबराय के शब्दों में- ''आलोचना का मूल उद्देश्य कवि का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठको को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना तथा उनकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गतिविधि-निर्धारित करने में योग्यदान देना।''

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार- ''आलोचना वह दर्पण है, जिसमें साहित्य अपने समय और समाज को देखता है।''

डॉ.रामविलास शर्मा के अनुसार- ''आलोचना साहित्य की सामजिक भूमिका को उजागर करने वाली शक्ति है।''

डॉ. श्यामसुन्दर दास के शब्दों में- ''साहित्य क्षेत्र में ग्रंथ को पढ़कर, उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके संबंध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। यह आलोचना काव्य, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि सभी की हो सकती है।''

डॉ. नामवर सिंह ने आलोचना को संवाद की प्रक्रिया माना और कहा कि ''आलोचना एक आत्मसंवाद और जनसंवाद की सर्जनात्मक प्रक्रिया है।''

1.4.3 पाश्चात्य विद्वानों के मतः

मिडिल्टन मरे के शब्दों में- ''कला जीवन की सजगता है तथा आलोचना कला की सजगता है।''

वार्सफिल्ड के शब्दों में- ''आलोचना कला और साहित्य के क्षेत्र में निर्णय की स्थापन है।''

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार- ''आलोचना का अर्थ वस्तुओं के गुण-दोषों की परख करना, चाहे वह परख साहित्यिक क्षेत्र की हो अथवा ललित कला के क्षेत्र की।''

इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि आलोचना केवल निर्णय देने की प्रक्रिया नहीं, बल्कि एक रचनात्मक संवाद है, जो पाठक, लेखक और समाज के बीच संबंध बनाता है। आलोचना के प्रमुख स्वरूपों में ऐतिहासिक आलोचना,

समाजशास्त्रीय आलोचना, मनोवैज्ञानिक आलोचना, मार्क्सवादी आलोचना, स्त्रीवादी आलोचना आदि सम्मिलित हैं। प्रत्येक आलोचना पद्धति रचना को एक विशेष दृष्टिकोण से देखती है और उसके विविध पहलुओं को उजागर करती है।



अपनी प्रगति जांचें

प्रश्न संख्या 6. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए-

आलोचना का कार्य है किसी साहित्यक रचना की अच्छी तरह परीक्षा करके उसके रूप, गुण और.....का निर्धारण करना।

प्रश्न संख्या 7. आलोचना के सन्दर्भ में अंग्रेजी में प्रचलित तीन शब्द क्या हैं?

प्रश्न संख्या 8. आलोचना के सन्दर्भ में बाबू गुलाबराय का मत स्पष्ट कीजिए।

1.5 आलोचना का महत्व

साहित्य केवल रचनात्मकता का माध्यम नहीं है, बल्कि समाज, संस्कृति और मानवीय अनुभवों का दर्पण भी है। साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन, विश्लेषण और समीक्षा करना जितना जरूरी है, उतना ही जरूरी है साहित्य के क्षेत्र में आलोचना। आलोचना साहित्य के गूढ़ अर्थों को उजागर करती है और पाठकों को किसी रचना की गहराई तक पहुँचने में मदद करती है। आलोचना लेखकों को अपनी रचनाओं की गुणवत्ता, प्रभाव और सामाजिक उपयोगिता को समझने का अवसर देती है। यह लेखन की दिशा को सुधारने में सहायक होती है तथा नई प्रवृत्तियों और विचारधाराओं को जन्म देती है। आलोचना यह तय करने में भी मदद करती है कि कौन-सी रचना कालजयी है और किसकी साहित्यिक महत्ता सीमित है।

राम स्वरूप चतुर्वेदी आलोचना के महत्व को स्वीकार करते हुए कहते हैं-रचना यदि जीवन का अर्थ विस्तार करती है तो आलोचक रचना का अर्थ विस्तार करता है। दूसरे शब्दों में जीवन के अंतर्द्वंद को देखने-परखने में आलोचना दीपक की भूमिका निभाती है। आलोचना रचनात्मक संकेतों को सामाजिक अनुभवों के आलोक में 'डी-कोड' करती है। इस तरह जहाँ रचनाकार की रचनाशीलता विराम लेती है वहीं से आलोचक का कार्य प्रारंभ होता है। किसी भी साहित्य की आलोचना अपने समय और समाज की सापेक्षता और प्रसंगानुकूलता में संभव होती है, तभी आलोचना की सार्थकता और साथ

ही साथ रचना की मूल्यवत्ता प्रमाणित होती है और इस प्रसंगानुकूलता और सापेक्षता की तलाश में आलोचना की सामाजिकता या सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रश्न उभरता है। अत: आलोचना साहित्य का शास्त्र नहीं है बल्कि साहित्य का जीवन है जो बदलते सामाजिक सन्दर्भों में बार-बार रचा जाता है। इस प्रकार आलोचना परखे हुए को बार-बार परखती है और जीवन-संबंधों के विकल्प की तलाश में साहित्य और आलोचना की सह-यात्रा के रूप में कार्य करती है।

नित्य के व्यावहारिक जीवन में किसी न किसी व्यक्ति, वस्तु अथवा कार्यकलाप की समीक्षा में हमारी सहज प्रवृत्ति होती है। किन्तु संस्कारों, चिंतन क्षमता एवं सामाजिक अवधारणा प्रभृति अन्य व्यक्तिगत विशेषताओं के परिणामस्वरूप हमारी प्रतिक्रियाओं में अंतर रहता है। इसी प्रकार साहित्य की आलोचना भी प्रतिक्रियाओं की देन है, किन्तु ये प्रतिक्रियाएं उच्छृंखल न होकर एक प्रकार के वैज्ञानिक संयम से अनुशासित रहती हैं।आलोचना मानव की सहज प्रवृत्ति है। यही कारण है कि उसका अस्तित्व अन्य मानवीय वृत्तियाँ अथवा संवेदनाओं की भांति चिरकाल से ही स्वीकार किया जाता है। आलोचना को साहित्य के संदर्भ में देखने पर साहित्य-रचना के बाद इसका आविर्भाव स्वत: सिद्ध हो जाता है। वस्तुत: पहले सर्जनात्मक साहित्य प्रकाश में आता है तत्पश्चात उसकी आलोचना की आवश्यकता का अनुभव किया जाता है।

आलोचना का संबंध एक साथ इतिहास और सामाजिक विमर्श दोनों से होता है। इतिहास में परिवर्तन की दिशा और संवेदना की पहचान करने, उसका विश्लेषण करने, उस परिवर्तन के कारणों और पड़ाव की पहचान करने और उसे अपने तत्कालीन समाज से जोड़ने की दृष्टि से आलोचना का व्यापक महत्व है। सामाजिक विमर्श के रूप में आलोचना के मूल्य सामाजिक मूल्य से भी संबंधित होते है। आलोचक जब इतिहास के साथ ही समाज, राजनीति, धर्म, नैतिकता और अर्थव्यवस्था के प्रश्नों से भी टकराता है तो इस टकराहट में वह साहित्य के मूल्य भी निर्मित करता है। मनुष्य के जातीय जीवन और उसकी संस्कृति से जोड़कर साहित्य का विश्लेषण करने में आलोचना का महत्त्व समझ में आता है। आलोचना से सहृदय को साहित्य के प्रमाणिक अनुशीलन की सुविधा प्राप्त होती है। सहृदय की रस ग्रहण क्षमता का परिष्कार करने के लिए उसकी संवेदनाओं को जागृत करने में आलोचना का अहम महत्त्व है। इससे

कृतिकार को उत्साह, विचारों की प्रौड़ता, रचनात्मक विचारों और शिल्प एवं भाषा के परिमार्जन और परिवर्द्धन की प्रेरणा मिलती है जबकि पाठक की बोध-वृति का भी परिष्कार होता है। इसके अलावा, आलोचना पाठकों को रचना के सौंदर्य, शैली, भाषा और कथ्य को समझने में सहायक होती है। यह साहित्यिक विमर्श को समृद्ध करती है और रचनाकार एवं पाठक के बीच एक बौद्धिक सेतु का कार्य करती है।

इस प्रकार हम देखते है कि हिंदी आलोचना अपने आरम्भ से सामाजिक सरोकारों से गहरे स्तर पर जुड़ी हुई है। युगीन हलचलों, वैचारिक द्वंद्वों, सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक-धार्मिक-नैतिक-राष्ट्रीय चिंताओं के सापेक्ष आलोचना के स्वरूप में भी व्यापक बदलाव हुआ है। सबसे अहम् यह कि हिंदी आलोचना रचनात्मक साहित्य के नवीन सृजन, नवीन विचारधाराओं और नवीन सामाजिक सरोकारों से टकराते हुए विविध दृष्टियों, प्रतिमानों और प्रवृतियों से युक्त होती चलती है। आलोचना के महत्व को मनुष्य के जातीय जीवन और उसकी संस्कृति से जोड़कर साहित्य का विश्लेषण करने की प्रक्रिया में ही हम समझ सकते है। किसी भी साहित्य की आलोचना अपने समय और समाज की सापेक्षता और प्रसंगानुकूलता में संभव होती है, तभी आलोचना की सार्थकता संभव है।

इसे भी जान लीजिए :

सच्चा आलोचक निष्पक्ष, सहृदय, संवेदनशील और तर्कशील होता है। उसमें अंतर्दृष्टि, औचित्य-बोध, भाषा-प्रवीणता और मनोवैज्ञानिक समझ होनी चाहिए। आलोचना एक पुनर्रचना है, अतः आलोचक को रचना की भावभूमि में तन्मय होकर प्रवेश करना चाहिए। वह रचना को गहराई से समझने की क्षमता रखता है और पूर्वाग्रह से मुक्त होकर मूल्यांकन करता है। उसकी आलोचना तर्कपूर्ण, तथ्यात्मक और संतुलित होती है, जो न तो केवल दोष निकालती है और न ही अंधप्रशंसा करती है। वह रचनाकार की भावना और संदर्भ का सम्मान करते हुए सुझाव देता है। भाषा उसकी सरल, स्पष्ट और संयमित होती है। सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि और रचनाकार की अनुभूति से जुड़ने की क्षमता उसमें अनिवार्य है। साथ ही, इतिहास-बोध, वर्तमान की समझ, व्यापक अध्ययन, मननशीलता तथा देशी-विदेशी साहित्य और कलाओं का ज्ञान आवश्यक है। आलोचक को पूर्वाग्रह, आग्रह और पांडित्य प्रदर्शन से दूर रहकर रचना की युगानुकूल व्याख्या करनी चाहिए।

1.6 साहित्य और आलोचना के अंतः संबंध

मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज के साथ उनका गहरा संबंध होता है। इस संबंध के परिणाम स्वरूप ही मनुष्य और समाज के बीच एक सुनिश्चित और अपरिहार्य जुड़ाव स्थापित हो जाते हैं। एक सच्चे मनुष्य के निर्माण में समाज जीवन की विशेष भूमिका रहती है। साहित्य उस समाज का दर्पण होता है। जहाँ लोग अपने अच्छे-बुरे सभी चीज देख पाते है। मनुष्य के निर्माण में उसकी दो क्षमताएँ सहायक होती हैं- 'बौद्धिक क्षमता' दूसरा 'संवेदनात्मक क्षमता' साहित्य मनुष्य की संवेदनात्मक क्षमता का परिणाम है। मनुष्य के अनुभव अनुभूति और संवेदना का विस्तार सामाजिक अवस्था में ही होती है। अथार्त किसी भी कला के सृजन का प्रत्यक्ष या परोक्ष आधार समाज ही होता है। साहित्य और समाज अथवा साहित्य और सामाजिक जीवन के इस अटूट और पारस्परिक संबंध का मूल कारण मनुष्य का सामाजिक होना है। इसी कारण साहित्य में आलोचना की भी विशेष भूमिका रहती है। साहित्य आलोचना की परंपरा में चाहे वह भारतीय हो या पाश्चात्य यह सब में साहित्य और समाज के संबंधों का गहराई से विवेचना किया गया है। साहित्य की आलोचना में सामाजिक जीवन की व्याख्या हमेशा अंतर्निहित होती है। साहित्य की रचना के पीछे प्रमुखतः सामाजिक दबाव होते हैं। इसीलिए आलोचना दृष्टि चाहे कोई भी हो उसमें साहित्य और समाज के संबंधों की अनिवार्यता का कोई विवाद नहीं है।

साहित्य और आलोचना एक-दूसरे के पूरक हैं। साहित्य मानवीय भावनाओं, अनुभवों, कल्पनाओं और सामाजिक यथार्थ की रचनात्मक अभिव्यक्ति है, जबकि आलोचना उस रचनात्मकता का विश्लेषण, मूल्यांकन और मार्गदर्शन करने वाली प्रक्रिया है। दोनों का संबंध इतना घनिष्ठ है कि किसी एक की अनुपस्थिति में दूसरे का पूर्ण विकास संभव नहीं है। साहित्य की रचना लेखक की कल्पना, संवेदना और अनुभवों पर आधारित होती है। वह समाज के विविध पहलुओं को अपनी दृष्टि से प्रस्तुत करता है, परंतु रचना की प्रभावशीलता, गुणवत्ता और प्रासंगिकता का मूल्यांकन आलोचना के माध्यम से ही संभव होता है। आलोचना न केवल साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करती है, बल्कि वह साहित्यिक मानदंडों और प्रवृत्तियों को भी दिशा प्रदान करती है। साहित्य और

आलोचना का संबंध केवल मूल्यांकन तक सीमित नहीं है। आलोचना साहित्य को नया दृष्टिकोण और विमर्श भी प्रदान करती है। जैसे-जैसे समाज और सोच बदलते हैं, वैसे-वैसे साहित्य और उसकी आलोचना के दृष्टिकोण भी बदलते हैं। उदाहरण के लिए, नारीवाद, दलित विमर्श, उत्तर आधुनिकता जैसे विभिन्न आलोचनात्मक दृष्टिकोणों ने साहित्य को नए अर्थ दिए हैं और पाठकों को नए संदर्भों में रचनाओं को समझने का अवसर प्रदान किया है।

असल में, किसी भी साहित्य की आलोचना अपने समय और समाज की सापेक्षता और प्रसंगानुकूलता में संभव होती है। तभी आलोचना की सार्थकता और साथ ही साथ रचना की मूल्यवत्ता प्रमाणित होती है। इस प्रसंगानुकूलता और सापेक्षता की तलाश में आलोचना की सामाजिकता या सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रश्न उठता है। अत: आलोचना साहित्य का शास्त्र नहीं बल्कि साहित्य का जीवन है, जो बदलते हुए सामाजिक संदर्भों में बार-बार रचा जाता है। आलोचना परखे हुए को बार-बार परखती है और जीवन-संबंधों के विकल्प की तलाश में साहित्य और आलोचना की सह-यात्री बनी रहती है। दूसरी और साहित्य एक सामाजिक घटना है जिसके निर्माण में सामाजिक परिस्थितियाँ ही कारण बनती हैं। आलोचना का संबंध एक साथ इतिहास हो अथवा सामाजिक दोनों से बराबर होता रहता है। इस प्रकार हम देखते है कि हिंदी आलोचना आरंभ से ही सामाजिक सरोकार में गहरे स्तर पर जुड़ी हुई है। युगीन हलचलों, वैचारिक द्वंदों सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक, राष्ट्रीय चिंताओं के सापेक्ष आलोचना के साथ साहित्य का समंध होता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि हिंदी आलोचना रचनात्मक साहित्य के नवीन सृजन, नवीन विचारधाराओं और नवीन सामाजिक सरोकार से टकराते हुए विविध दृष्टियों, प्रतिमानों और प्रवृतियों से युक्त होती है। आलोचना के महत्व को मनुष्य के जातीय जीवन और उसकी संस्कृति से जोड़कर साहित्य का विश्लेषण करने की प्रक्रिया से ही किसी भी साहित्य की आलोचना अपने समय और समाज की सापेक्षता और प्रसंगानुकूलता में संभव होती है। इसी में आलोचना की सार्थकता और मूल्यवत्ता प्रमाणित होगी।

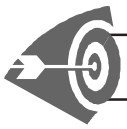
आलोचना-समय साहित्य के अतीत, वर्तमान और भविष्य का समय है। आलोच्य-प्रज्ञा का विस्फोट किसी भी काल में हो सकता है। आलोचना ही रचना को भी समय की सीमाओं से बाहर निकालकर उसे समयातीत स्थिति

में प्रतिष्ठित करती है, इसलिए आलोचना स्वयं भी समयातीत है। यदि उसका कोई भौतिक समय है, तो उसे शिल्प और शैली के आधार पर कोई नाम दिया तो जा सकता है, मगर यह एक सीमित अवधारणा होगी। आलोचना न निंदा है न स्तुति, न समय का लेखा-जोखा, वह तो रचना से उसकी सृजन मुद्रा में ही पुनर्साक्षात्कार है, जिसमें समय और अवकाश यदि भौतिक या अमूर्त रूप से है, तो आलोचना उनकी उपादेयता प्रकट करती है और यदि वे समयातीत हैं तो आलोचना उसके समयातीत होने को प्रमाणित करती है।



1.7 सारांश

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि आलोचना का शाब्दिक अर्थ है- विवेचन, मूल्यांकन और परीक्षण। साहित्यिक संदर्भ में आलोचना का आशय है किसी साहित्यिक कृति का तर्कपूर्ण, सौंदर्यपरक एवं वस्तुनिष्ठ विश्लेषण। आलोचना न केवल कृति की विशेषताओं और सीमाओं को उजागर करती है, बल्कि पाठक को सही साहित्यिक दृष्टिकोण भी प्रदान करती है। विभिन्न आलोचकों ने आलोचना की परिभाषा भिन्न-भिन्न रूप में दी है, परंतु सभी में एक समान तत्व यह है कि आलोचना साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन की वह प्रक्रिया है जो सौंदर्यबोध, भावबोध एवं यथार्थबोध पर आधारित होती है। यह साहित्य को समझने, परखने और उसकी दिशा तय करने में सहायक होती है। आलोचना न तो केवल निंदा है, न प्रशंसा मात्र, बल्कि यह विवेकपूर्ण विश्लेषण है जो साहित्य और समाज के बीच सेतु का कार्य करती है। इस प्रकार, आलोचना साहित्यिक मंथन की वह प्रक्रिया है जो रचना के गूढ़ अर्थों को उजागर करती है। साहित्य और आलोचना एक-दूसरे से अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। साहित्य रचना है तो आलोचना उसका मार्गदर्शन। साहित्य कल्पना है, तो आलोचना उसका विवेक। दोनों का समन्वय साहित्यिक विकास, समाजिक चेतना और सांस्कृतिक समृद्धि के लिए अत्यंत आवश्यक है। आलोचना के बिना साहित्य अधूरा है, और साहित्य के बिना आलोचना निष्प्राण।



1.8 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

पश्न संख्या 1. का उत्तर : 'लोच्' धातु से।

पश्न संख्या 2. का उत्तर : आलोचना।

पश्न संख्या 3 का उत्तर : पाने के लिए 'प्रस्तावना और आलोचना का अर्थ' को ध्यान से पढ़िए।

पश्न संख्या 4 का उत्तर : आचार्य रामचंद्रशुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी।

पश्न संख्या 5 प्रस्तावना में मिल जाएगा।

पश्न संख्या 6 इकाई के 1.3 शीर्षक में मिल जाएगा ।

पश्न संख्या 7 का उत्तर : 'क्रिटिसिज्म'(Criticism), 'रिभ्यु'(Review) और 'ओपिनियन'(Opinion)।

पश्न संख्या 8 का उत्तर 1.4.1 शीर्षक में प्राप्त होगा।



1.9 अधिक जानने के लिए पड़े

- मधुरेश. (2015). हिंदी आलोचना का विकास. इलाहाबाद: लोक भारती प्रकाशन।
- त्रिपाठी, विश्वनाथ. (1992). हिंदी आलोचना. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
- यादव, अरविंद. (n.d.). आधुनिक हिंदी आलोचना. दिल्ली: नोसन प्रेस।
- नवल, नंदकिशोर. (2023). हिंदी आलोचना का विकास. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
- शुक्ल, आचार्यरामचंद्र.(1939). चिंतामणि-भाग-1. इलाहाबाद: लोकभारतीप्रकाशन।
- सिंह, नामवर. (1954). आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ. दिल्ली: किताब महल।
- सिंह, गोपेश्वर. (2011). आलोचना का नया पाठ. दिल्ली : किताब घर प्रकाशन।
- सिंह, नामवर. (1968). छायावाद. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
- सिंह, नामवर. (1990). वाद-विवादसंवाद. दिल्ली: राजकमलप्रकाशन।
- आलोचना प्रक्रिया और स्वरूप. (1976). दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस।

1.10 अभ्यास प्रश्न

क) संक्षिप्त पश्नों का उत्तर दीजिए -

1. आलोचना से तात्पर्य क्या है?
2. आलोचना पर आचार्य शुक्ल ने अपना मत किस प्रकार व्यक्त किया है?
3. आपके विचार में साहित्य और आलोचना के बीच संबंध होता है या नहीं?
4. आलोचन पर श्यामसुंदर दास ने अपना मत किस प्रकार व्यक्त किया है?
5. समीक्षा और समालोचना किस अर्थ में प्रयोग होता है?

ख) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखिए -

1. आलोचना के अर्थ और परिभाषा को स्पष्ट कीजिए?
2. आलोचना से आप क्या समझते है? आलोचना के सन्दर्भ में दिए गए भारतीय मतों पर विचार कीजिए।
3. 'साहित्य और आलोचना के अंत: संबंध' पर एक आलेख प्रस्तुत कीजिए।
4. आलोचना के महत्व पर प्रकाश डालते हुए सच्चे आलोचक के किन्ही तीन गुणों पर विचार कीजिए।
5. सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय पक्ष के साथ आलोचना के संबंध को अपने शब्दों में स्पष्ट कीजिए।

*****

इकाई 2 : आलोचना स्वरूप, प्रकार एवं दृष्टियाँ

इकाई की रूपरेखा

2.1 उद्देश्य

2.2 प्रस्तावना

2.3 आलोचना के स्वरूप

2.4 आलोचना के प्रकार

2.5 आलोचना के दृष्टियाँ

2.6 सारांश

2.7 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

2.8 अधिक जानने के लिए पढ़े

2.9 अभ्यास प्रश्न

2.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप -

- आलोचना के स्वरूप को जान पाएंगे।
- आलोचना के तत्वों की समझ विकसित होंगे।
- आलोचना के प्रकारों से परिचित हो सकेंगे।
- आलोचक की विशेषताओं के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- आलोचना पद्धति के बारे में अवगत कराया जाएगा।
- आलोचना के विभिन्न दृष्टिकोणों को आसानी से समझा जा सकेगा।

2.2 प्रस्तावना

साहित्य में आलोचना का विशेष महत्व होता है, क्योंकि आलोचना के बिना साहित्य की सम्यक् समझ संभव नहीं है। यह साहित्य का एक अभिन्न और आवश्यक अंग है। किसी विचार, रचना, या कार्य का सूक्ष्म मूल्यांकन और परीक्षण करना ही आलोचना कहलाता है। यह प्रक्रिया किसी विषय को समझने, उसके गुण-दोषों को उजागर करने तथा उसके महत्व को स्पष्ट करने का कार्य करती है। आलोचना केवल दोष निकालने की क्रिया नहीं है, बल्कि यह सुधार, परिष्कार और विकास का माध्यम भी बन सकती है। प्रथम इकाई में आलोचना

का अर्थ, परिभाषा और महत्व को स्पष्ट किया गया है। इस इकाई में आलोचना के स्वरूप, प्रकार और दृष्टियों से परिचित करवा रहे है।

रचना की गहराई तक पहुँचने के लिए आलोचना आवश्यक होती है। आलोचना का तात्पर्य है किसी कृति या वस्तु का वस्तुनिष्ठ और संतुलित मूल्यांकन करना। इस मूल्यांकन में रस की अनुभूति, विवेचन, परीक्षण और विश्लेषण की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आलोचना रचना और पाठक या सहृदय के बीच एक पुल की तरह कार्य करती है। यह न केवल रचना की सौंदर्यात्मकता और मूल्य को उजागर करती है, बल्कि पाठक की समझ को भी समृद्ध करती है और उसे कृति का विश्लेषण करने की दृष्टि प्रदान करती है। समय के साथ-साथ आलोचना के मानदंडों में भी परिवर्तन होता गया है और इसके स्वरूप का विस्तार होता गया है। चूँकि समाज स्वयं परिवर्तनशील है, इसलिए साहित्य भी एक निश्चित स्थिति में स्थिर नहीं रहता। समाज, साहित्य और विचारधारा-ये तीनों परस्पर प्रभावित होते रहते हैं। अत: यह स्वाभाविक है कि साहित्य के किसी एक आदर्श मानदंड को अंतिम रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता।

हालाँकि, किसी निश्चित समय में निर्धारित मानदंडों के आधार पर ही साहित्य का मूल्यांकन किया जाता है, लेकिन समय के साथ नए समीक्षात्मक प्रतिमानों का विकास होता है। हिंदी आलोचना में आलोचना के मानदंडों में हुए परिवर्तनों को समझने के लिए डॉ. शिवकुमार मिश्र की कृति 'आलोचना के मान' तथा नामवर सिंह की 'कविता के नये प्रतिमान' अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती हैं।

नीचे आलोचना के विविध स्वरूपों की विस्तृत चर्चा प्रस्तुत की गई है।

2.3 आलोचना के स्वरूप

आलोचना के स्वरूप के संदर्भ में यह मान्यता है कि आलोचक काव्य का विश्लेषण करते हैं। उसके गुण-दोष का विवेचन नहीं करते। आगे चलकर इसमें परिवर्तन होता गया। परिवर्तन के साथ साहित्य का कोई भी मान निरंतर नहीं चलता है। अथार्त समाज, साहित्य और विचारधारा में परिवर्तन होता रहता है।

यह सत्य है कि मनुष्य का मन हजारों अनुकूल और प्रतिकूल धाराओं

के संघर्ष से अनुभव और संवेदना ग्रहण करता है। अगर इस सत्य को स्वीकार कर लिया जाए तो साहित्य के मूल्य निर्धारण का कोई एक सामान्य मानदंड नहीं हो सकता है क्योंकि साहित्य मनुष्य की इन्हीं बहूरूपी संवेदनाओं और अनुभूतियों का व्यक्त रूप है। जब आलोचक अपनी रूचि को प्रमुखता देते हुए साहित्य का मान निर्धारण करता है तब समस्या उत्पन्न होती है। दूसरे आलोचक एक ही कवि या कृति को अपनी रूचि के आधार पर उत्कृष्ट या निकृष्ट घोषित कर देता है। अत: यह कहा जा सकता है कि अपनी-अपनी रूचि और अपने-अपने सिद्धांत को लेकर साहित्य का यथार्थ निर्णय नही हो सकता है। अत: ऐसे प्रतिमानों की आवश्यकता होती है जो कम से कम आलोचना का एक आदर्श ढाँचा खड़ा करते हैं। चाहे वह परिवर्तनशील ही क्यों न हो। इस प्रकार आलोचना के निर्णयात्मक स्वरूप को आधुनिक आलोचना ने अस्वीकार कर दिया।

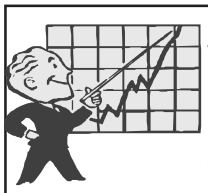
निर्णयात्मक आलोचना को प्रभावशाली आलोचना भी कहा गया है। अथार्त रचना का अपने ऊपर पड़ने वाला प्रभाव ही जब आलोचना के लिए प्रमुख हो जाता है और वह आलोचना के सामान्य मापदंडों की भी अवहेलना करने लगता है। ऐसी स्थिति में की गई नई आलोचना को प्रभाववादी आलोचना कहा जाता है। अत: आलोचना का स्वरूप केवल नकारात्मक टिप्पणियों तक सीमित नहीं होना चाहिए। एक स्वस्थ आलोचना में निष्पक्षता, तटस्थता, तार्किकता और संवेदनशीलता का समावेश होना चाहिए। आलोचक को न केवल रचना या विचार की गहराई को समझना चाहिए, बल्कि उसे प्रस्तुत करते समय भाषा की मर्यादा और सृजनात्मक उद्देश्य का भी ध्यान रखना चाहिए।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रभाववादी के संबंध में यह मत व्यक्त किया है, ''प्रभावभिव्यंजक समालोचना कार्य ठीक ठिकाने की वस्तु नहीं है। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है।''

शुक्ल जी का यह कथन इसलिए अधिक विचारणीय है क्योंकि आलोचना का कार्य कवि के लक्ष्य को और कृति के भाव को ठीक-ठीक समझने में सहायता करना है, जबकि प्रभाववादी आलोचक रचना के द्वारा अपना रंजन करते हुए उसे सार्वजनिक बनाने का यत्न करता है। प्रभाववादी आलोचना में आलोचक अपने भावावेग को दूसरों पर थोपना चाहता है। शुक्ल जी ने कहा

है कि- ''काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव करता है।''

निर्णयात्मक और प्रभाववादी आलोचक रचना पर अपना पूर्ण आधिकार मान लेता था क्योंकि वह अपने आपको ही काव्य का सर्वोच्च रसिक समझता था। साहित्य से संबंधित अन्य बातों की ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती थी। इसके विपरीत आधुनिक आलोचना सबसे पहले साहित्य में निहित समस्याओं को केंद्र में रखना चाहती है। वह मानती है कि सामाजिक आर्थिक तथा अन्य प्रकार की मानव जीवन से संबंधित समस्याओं को समझने-सुलझाने में साहित्य सहायक का काम करता है। अत: आलोचना को सामाजिक संदर्भो से जुड़ा होना चाहिए।



महत्वपूर्ण बिंदु : आलोचना साहित्य का मूल्यांकन करने की वह विधा है, जो रचना की कलात्मकता, भाव, विचार, शैली और समाजिक संदर्भों की समीक्षा करती है। इसका स्वरूप विवेचनात्मक, मूल्यपरक और विश्लेषणात्मक होता है। आलोचना के प्रमुख प्रकार हैं-सैद्धांतिक आलोचना, प्रायोगिक आलोचना, आर्थिक-सामाजिक आलोचना, आध्यात्मिक आलोचना, मनोविश्लेषणात्मक आलोचना इत्यादि। आलोचना की दृष्टियाँ विभिन्न विचारधाराओं पर आधारित होती हैं, जैसे-मार्क्सवादी दृष्टि, नारीवादी दृष्टि, उत्तरआधुनिक दृष्टि, संरचनावादी एवं उत्तर-संरचनावादी दृष्टियाँ। आलोचना का उद्देश्य केवल दोष निकालना नहीं, बल्कि साहित्य को उसकी व्यापकता में समझना और समाज-सापेक्ष बनाना है। यह रचना और पाठक के बीच एक विवेकशील सेतु का कार्य करती है।

नई आलोचना यह भी मानती है कि साहित्य रचना केवल, सजीले पद विन्यास, माधुर्य और अलंकार युक्त साहित्य तक ही सीमित नहीं रहती है। वह मानती है कि आलोचना को बौद्धिक विलास से आगे मानकर, मनुष्य की भावनाओं और अनुभूतियों का विश्लेषण होना चाहिए। उसे कृति के उन पक्षों पर भी प्रकाश डालना चाहिए जिनके कारण उसमे साहित्यिकता का समावेश हुआ है। हिंदी में कई ऐसे निबंध लिखे गए हैं जो सामजिक समालोचना के इसी पक्ष पर केंद्रित हैं। उदाहरण के लिए- रामचंद्र शुक्ल के निबंध 'कविता क्या है?' (**चिंतामणि, भाग-1**) में साधारणीकरण, लोकमंगल की साधनावस्था

को देखा जा सकता है।



अपनी प्रगति जांचें

पश्न संख्या 1. 'कविता क्या है' निबंध के रचयिता कौन थे?

प्रश्न संख्या 2. 'कविता के नये प्रतिमान' किस प्रकार का ग्रन्थ है?

प्रश्न संख्या 3. 'काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव करता है' यह कथन किसका है?

प्रश्न संख्या 4. 'आलोचना के मान' के रचनाकार कौन है?

प्रश्न संख्या 5. नई आलोचना में किस प्रकार के विचार समाहित है?

नवीन आलोचना के परिप्रेक्ष्य में आलोचना में आलोचक की दृष्टि संतुलित होना चाहिए। इसका एक आशय यह है कि आलोचना भावावेग और पक्षपात मुक्त हो और दूसरा यह है कि वह संतुलित दृष्टि रखते हुए रचना को एकांगी रूप में नहीं देखकर संपूर्णता से देखे। संतुलन के माध्यम से ही कृति के अनजान पहलुओं को आलोचक सामने ला सकता है, जिनकी ओर सामान्य पाठक का ध्यान नहीं जा पाता है। अत: आज की आलोचना में साहित्य निम्नलिखित कार्य करता है। जिन्हें आलोचक को ध्यान में रखना अनिवार्य होता है–

1. साहित्य सामाजिक जीवन की बहुविध परख करता है।
2. साहित्य में प्रकट उद्गार भाषाबद्ध होते हैं।
3. साहित्य दुराग्रही मूल्यों की आलोचना करता है तथा मुक्त मूल्यों का समर्थन करता है।
4. साहित्य में युग सत्य प्रवाहित होता है और समय के साथ वह बदलता भी है।
5. साहित्य का मूल्य लक्ष्य है मनुष्य की आतंरिक भावनाओं को प्रस्तुत करना।

साहित्य की इन सभी विशेषताओं को समेटते हुए ही प्रगतिशील/प्रगतिवादी साहित्य की स्थापना की गई थी। साहित्य में बंधे हुए अनुभवों, सत्यों और विचारों को परखने के लिए प्रगतिशील आलोचना सामने आया। यह आलोचना मनुष्य को सर्वाधिक महत्व देती है और मनुष्य को बाँटने वाली शक्तियों की निंदा करती है। आलोचना दृष्टि के अनुसार साहित्य वर्गहीन समाज की स्थापना

का एक साधन है। अत: आलोचक को प्रगतिशीलता के तत्वों पर ध्यान देते हुए चलना चाहिए। प्रगतिशील साहित्यकार इसी मार्ग पर चलता है। आलोचक अपनी प्रगतिशील दृष्टि से इस प्रकार के साहित्य की आलोचना करता है। तभी समाज की प्रतिगामी प्रगतिशील शक्तियों का विवेचन संभव हो पाता है और साहित्य को समाज की आदर्श-संरचना के निर्माण में सहयोगी बनाने का संकल्प आलोचक लेता है। आलोचना का स्वरूप काल और कालगत परिस्थितियों और प्रवृतियों के कारण बदलता रहता है। हर प्राचीन साहित्य त्याग, तप, दया, बलिदान आदि मूल्यों को लेकर रचा गया था। मोक्ष, स्वर्ग और अध्यात्म इसके मूल में थे। अत: इसकी आलोचना व्याख्यात्मक होकर ही समाप्त हो जाती थी। इसके बाद के साहित्य का एक ढाँचा जिसमे कला और शिल्प विधान की रीतियाँ निर्धारित की गई। अब रचना के प्रारंभ में 'नांदी सूत्र' होना चाहिए और मंगलाचरण होना चाहिए। अंत में भरत वाक्य तथा काव्य को महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत होना चाहिए जैसी धारणाएँ बन गई। किसी कवि ने इन रीतियों का प्रयोग किया या नहीं किया, और किया है तो कितनी, ये बातें इस आलोचना का आधार बनी। इसके बाद साहित्य पूरी तरह यथार्थ जीवन पर आधारित हो गया। साहित्य से आध्यात्मिक मूल्य दूर होते गए। साहित्य का एक मात्र लक्ष्य व्यक्ति और समाज की साधारण को असाधारण बनाकर अभिव्यक्ति करना हो गया। साहित्य की इस आधुनिकता ने आलोचना से भी नव्य बनने की माँग की क्योंकि पुराने साहित्य आलोचनात्मक मापदंडों पर साहित्य की परख नहीं की जा सकती थी। यहीं से आलोचन की आधुनिक दृष्टि ने जन्म लिया, जिनकी चर्चा विस्तार से की गई है। समाजशास्त्रीय आलोचना और मनोवैज्ञानिक आलोचना में नौ आलोचना दृष्टियों पर विचार किया गया है। वे सभी आधुनिक आलोचना की स्वीकार्य और विकसित आलोचना दृष्टियाँ हैं, जिन्हें आलोचना के प्रकार या क्षेत्र कह सकते हैं।

हिंदी साहित्य के इतिहास में साहियाकारों ने एकाध निबंध अवश्य ही अपने समय की आलोचना दृष्टि से लिखा होगा। कई रचनाकारों ने अलग से भी आलोचना ग्रंथ लिखें हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आधुनिक हिंदी साहित्य में निबंधों का ऐसा भंडार है जो आलोचना पर केंद्रित है। यदि इन्हें देखा जाए तो आलोचना के नये पुराने संदर्भों का परिचय मिल सकता है। साहित्य कोई भी उसकी आलोचना ही उसे सर्वांगीण देख पाती है।

साहिय के विषय में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का कथन है-''भाव और शैली आदि में कितने भी परिवर्तन क्यों न होते रहें जो साहित्य हमें एकत्व की अनुभूति की ओर उन्मुख करेगा, हमें पाशविक मनोवृतियों से ऊपर उठाकर प्रेम और मंगलमय मनुष्य धर्म में प्रतिष्ठित करेगा, वही वस्तुत: साहित्य कहलाने का अधिकारी होगा।''

2.4 आलोचना के प्रकार

आलोचना के दो प्रकार हैं- सैद्धान्तिक आलोचना तथा व्यवहारिक आलोचना-

2.4.1 सैद्धांतिक आलोचना:

आलोचना के प्रकारों में सैद्धांतिक आलोचना का महत्वपूर्ण स्थान है। सैद्धांतिक आलोचना का तात्पर्य उन आलोचनात्मक प्रवृत्तियों से है जो साहित्य के मूलभूत तत्वों—जैसे कि काव्य का स्वरूप, उद्देश्य, भाषा, शैली, कल्पना, यथार्थ, भाव, रस आदि—की व्याख्या और विवेचना करती हैं। यह आलोचना रचना विशेष पर नहीं, बल्कि साहित्य के व्यापक सिद्धांतों पर केंद्रित होती है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार, ''सैद्धांतिक आलोचना वह है जो साहित्य के सिद्धांतों की स्थापना करती है और उसकी कसौटियों को स्पष्ट करती है।'' अन्य शब्दों में, यह आलोचना साहित्य की संरचना और उसके मूल तत्वों को समझने और व्याख्यायित करने का प्रयास है।

सैद्धांतिक आलोचना का स्वरूप विचारात्मक, तुलनात्मक और विवेचनात्मक होता है। यह विभिन्न काव्य सिद्धांतों जैसे-अरस्तू का अनुकरणवाद, लोंजाइनस का उदात्तवाद, हिंदी में आचार्य शुक्ल का लोकमंगलवाद या नामवर सिंह का इतिहास-बोध—का अध्ययन करती है। इसका कार्य किसी एक रचना पर प्रतिक्रिया देना नहीं, बल्कि उन विचारधाराओं की व्याख्या करना होता है जो साहित्य को दिशा और दृष्टिकोण प्रदान करती हैं।

इसमें साहित्य संबंधी सामान्य सिद्धांतों पर विचार किया जाता है। ये सिद्धांत शास्त्रीय भी हो सकते हैं और ऐतिहासिक भी, शास्त्रीय सिद्धांतों का स्वरूप स्थिर और अपरिवर्तनशील होता है, जबकि ऐतिहासिक सिद्धांतों का स्वरूप परिवर्तनशील और विकासात्मक होता है।

2.4.2 व्यावहारिक आलोचना:

व्यावहारिक आलोचना में मूलत: किसी विशेष साहित्यिक रचना का मूल्यांकन और विश्लेषण किया जाता है। जिसमें किसी एक विशेष रचना—कविता, कहानी, उपन्यास या नाटक—का गहन अध्ययन किया जाता है। इसमें रचना के रूप, विषय, भाषा, शैली, भाव, विचार, संरचना आदि का विश्लेषण कर उसकी साहित्यिक गुणवत्ता का मूल्यांकन किया जाता है। रामविलास शर्मा के अनुसार, ''जब आलोचक किसी विशेष साहित्यिक कृति का मूल्यांकन करता है, तो वह व्यावहारिक आलोचना करता है।'' सिद्धांतों के आधार पर साहित्य की समीक्षा की जाए, तो उसे व्यावहारिक आलोचना कहा जाता है। व्यावहारिक आलोचना साहित्य को समझने और परखने की वह प्रक्रिया है जो रचना के प्रत्यक्ष अवलोकन और विश्लेषण पर आधारित होती है, और साहित्यिक सौंदर्य का अनुभव कराती है।

पद्धती के अनुसार आलोचना चार प्रकार के हैं-

(क) सैद्धान्तिक आलोचना

सैद्धान्तिक आलोचना में साहित्य के सिद्धान्तों पर विचार होता है। इसमें प्राचीन शास्त्रीय काव्यागों-रस, अलंकार आदि और साहित्य की आधुनिक मान्यताओं तथा नियमों की मुख्य रूप से विवचेना की जाती है। सैद्धान्तिक आलोचना में विचार का बिन्दु यह है कि साहित्य का मानदंड शास्त्रीय है या ऐतिहासिक। मानदंड का शास्त्रीय रूप, स्थिर और अपरिवर्तनशील होता है किन्तु मानदंडों को ऐतिहासिक श्रेणी मानने पर उनका स्वरूप परिवर्तनशील और विकासात्मक होता है। दोनों प्रकार की सैद्धान्तिक आलोचनाएँ उपलब्ध हैं। किन्तु अब उसी सैद्धान्तिक आलोचना का महत्त्व अधिक है जो साहित्य के तत्वों और नियमों की ऐतिहासिक प्रक्रिया में विकासमान मानती है।

(ख) निर्णयात्मक आलोचना

निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर जब साहित्य के गणु-दोष, श्रेष्ठ-निकृष्ट का निर्णय कर दिया जाता है तब उसे निर्णयात्मक आलोचना कहते हैं। इसे एक प्रकार की नैतिक आलोचना भी माना जाता है। इसका मुख्य स्वभाव न्यायाधीश की तरह साहित्यक कृतियों पर निर्णय देना है। ऐसी आलोचना प्राय: ही सिद्धान्त का यांत्रिक ढंग से उपयोग करती है। इसलिए निर्णयात्मक आलोचना का महत्त्व कम हो जाता है।

यद्यपि मूल्य या श्रेष्ठ साहित्य और निकृष्ट साहित्य का बोध पैदा करना आलोचना के प्रधान धर्मों में से एक है लेकिन वह सिद्धान्तों के यांत्रिक उपयोग से नहीं सभंव है। 'हिन्दी साहित्य कोश' में निर्णयात्मक आलोचना के विषय में बताया गया है:

वह कृतियों की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता के सबंधं में निर्णय देती है। इस निर्णय में वह साहित्य तथा कला संबन्धी नियमों से सहायता लेती है किन्तु ये नियम साहित्य और कला के सहज रूप से सबंधंन रख वाह्य रूप से आरोपित हैं।

इस प्रकार आलोचना में निर्णय विवाद का बिन्दु उतना नहीं है, जितना निर्णय के लिए अपनाया गया तरीका। जैसे, रामचंद्र शुक्ल की आलोचना में मूल्य निर्णय है, लेकिन उसका तरीका सृजनात्मक है, यांत्रिक नहीं। निर्णयात्मक आलोचना में मूल्य और तरीका, दोनों की में लचीलापन नहीं होता।

(ग) प्रभावाभिव्यंजक आलोचना

इस आलोचना में काव्य का जो प्रभाव आलोचक के मन पर पड़ता है उसे वह सजीले पद-विन्यास में व्यस्त कर देता है। इसमें वयैक्तिक रुचि ही मुख्य है। प्रभावाभिव्यजंक समालोचना कोई ठौर-ठिकाने की वस्तु नहीं है। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका मूल्य है न भाव के क्षेत्र में।

(घ) विश्लेष्णात्मक आलोचना

विश्लेषणात्मक आलोचना एक ऐसी आलोचना पद्धति है जिसमें किसी साहित्यिक रचना या विचार का सूक्ष्मता और तर्कपूर्ण ढंग से विश्लेषण किया जाता है। इसमें लेखक रचना के विभिन्न पक्षों- जैसे विषयवस्तु, शैली, भाषा, शिल्प, प्रतीक, बिंब, संरचना आदि—का गहराई से अध्ययन करता है और तर्क व प्रमाण के आधार पर उसके गुण-दोषों का मूल्यांकन करता है।

2.5 आलोचना की दृष्टियाँ

आलोचना की निम्नलिखित दृष्टियाँ होती हैं-

2.5.1 रसवादी आलोचना :

किसी रचना या रचनाकार का मूल्यांकन करते समय रस को सर्वाधिक महत्व देना रसवादी आलोचना कहलाता है। रसवादी चिंतन का भारतीय परिप्रेक्ष्य अत्यंत व्यापक और विवेचनीय है। प्रमुख रूप से आनंदवर्धन (ध्वन्यालोक) और

अभिनवगुप्त (अभिनव भारती) को रस सिद्धांत के निरूपण के आचार्य माना जाता है। इन दोनों के पहले और बाद में भी रस सिद्धांत पर विमर्श हुए हैं लेकिन इन दोनों का विवेचन विस्तृत और वैज्ञानिक है। सिद्धांत के स्तर पर रस के संबंध में तीन बातें मानी गई है-

1. रस की स्थिति 2. उसकी प्रक्रिया क्या है 3. उसका स्वरूप क्या है।

2.5.2 ऐतिहासिक आलोचना :

जब किसी रचना की आलोचना युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में की जाती है तो उसे ऐतिहासिक आलोचना कहा जाता है। इसके अंतर्गत वे आलोचनाएँ आती हैं, जिसमे किसी रचना का मूल्यांकन रचनाकार के 'जाति', 'वर्ग' और 'समाज' के आधार पर किया जाता है। इस आलोचना पद्धति का आरंभ प्रसिद्ध इतिहासकार 'तेन' ने किया था। यह हिंदी आलोचना की अमूल्य निधि है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' और 'नाथपंथियों' का मूल्यांकन इसी आलोचना पद्धति से किया है।

2.5.3 समाजशास्त्रीय आलोचना :

समाजशास्त्रीय आलोचना एक व्यापक दृष्टिकोण से संबंधित आलोचना पद्धति है। इसका महत्व इस बात से है कि साहित्य से संबंधित सभी प्रभावी व्यक्तित्व समाज से ही संबंधित रहते हैं। चाहे वह स्वयं रचनाकार, पाठक हो या विभिन्न वर्गों और समुदाय से संबंधित पात्र हों। साहित्य को सामाजिक कला भी कहा जा सकता है क्योंकि सामाजिक जीवन और सामाजिकता के विविध आयामों से होकर ही साहित्य का सृजन होता है। समाजशास्त्रीय आलोचना दोनों का विश्लेषण करती है कि साहित्य में सामाजिक कार्य कैसे और समाज में साहित्य कैसे कार्य करता है।

2.5.4 मार्क्सवादी आलोचना :

आधुनिक हिंदी आलोचना की प्रगतिशील धारा ने मार्क्सवादी विचारधारा और दर्शन से अपना आधार ग्रहण किया है। मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की एक प्रमुख विचारधारा-आधारित आलोचना पद्धति है, जिसका आधार कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स के विचार हैं। यह आलोचना साहित्य को सामाजिक,

राजनीतिक और आर्थिक संदर्भों में देखकर उसका विश्लेषण करती है। मार्क्सवादी आलोचना का मूल उद्देश्य यह समझना है कि साहित्य किस प्रकार वर्ग-संघर्ष, शोषण, उत्पादन प्रणाली और पूंजीवाद जैसे विषयों को प्रतिबिंबित करता है। यह साहित्य को समाज की आर्थिक-सामाजिक संरचना का उत्पाद मानती है।

हिंदी आलोचना को स्वच्छंदतावादी आलोचना की परिधि से निकालकर मार्क्सवाद और यथार्थवाद ने उसका संबंध फिर से बाह्य जगत और मानवीय एवं सामाजिक सरोकार से जोड़ा तथा वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की। रामविलास शर्मा ने भारतेंदु, प्रेमचंद और निराला की रचनाओं को मार्क्सवादी दृष्टि से व्याख्यायित किया। उन्होंने साहित्य को जन जीवन से जोड़ने पर बल दिया। इसके साथ ही शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव, मुक्तिबोध, शिवकुमार मिश्र आदि प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक है।

2.5.5 मनोविश्लेषणवादी आलोचना :

साहित्य मानव जीवन की आलोचना और मानव सभ्यता के विकास का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दस्तावेज है। बाह्य परिस्थितियों की आतंरिक भावनाओं पर होनेवाली प्रतिक्रिया का विश्लेषण करना मनोवैज्ञानिक आलोचना कहलाता है। इस प्रकार की रचना की परख आलोचना करने से पहले रचनाकारों के मन:स्थिति का अध्ययन करना भी आवश्यक होता है। मनोविश्लेषणवादी आलोचना का आधार सिगमंड फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धांतों पर है। यह साहित्यिक रचनाओं और पात्रों के मानसिक संसार, अवचेतन मन, इच्छाओं, द्वंद्वों और दमन की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करती है। इस आलोचना में लेखक के मानसिक अनुभवों और उसके जीवन की घटनाओं को भी रचना से जोड़ा जाता है। पात्रों के व्यवहार, स्वप्न, भय और कुंठाओं की गहराई से व्याख्या की जाती है।



अपनी प्रगति जांचें

प्रश्न संख्या 6. मनोविष्लेषणवादी आलोचना से आप क्या समझते हैं?

प्रश्न संख्या 7. सैद्धान्तिक आलोचना तथा व्यवहारिक आलोचना में सामान्यत: क्या फर्फ नजर आते हैं?

पश्न संख्या 8. हिंदी के दो प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक के नाम लिखिए।

प्रश्न संख्या 9. एतिहासिक आलोचना से आप क्या समझते है?

पश्न संख्या 10. 'ध्वन्यालोक' के रचनाकार कौन है?

2.5.6 रूपवादी आलोचना :

रूपवादी विचारधारा में प्रमुखत: किसी भी साहित्यिक रचना को उसके रूपगठन के आधार पर विश्लेषित करने अथवा उसकी आलोचना करने पर बल दिया जाता है। रूपवादी आलोचना का प्रारंभिक स्वरूप है प्राग-स्कूल (चीकोस्लोवाकिया) के चिंतन में मिलता है। इसकी यह मान्यता है कि किसी भी भाषिक इकाई की संरचना उस इकाई के भीतर पाए जाने वाले संबंधों की व्यवस्था है। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा का रूप विधान उसकी संरचनागत इकाइयों के सटीक संयोजक और उपयुक्त सहसंबंधों के आधार पर नहीं बनता तो भाषा या तो निरर्थक हो जायेगी अथवा उसका अर्थ विधान दोषपूर्ण बन जाएगा।

2.5.7 मिथकीय आलोचना :

हिंदी में मिथक शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'मिथ' के रूप में किया जाता है। मिथक से ऐसी काल्पनिक घटनाओं का अर्थ लगाया जाता है जो अलौकिक और अद्भुत होती है। आदिमानव प्रवृतियों में मिथक का अपना विशेष स्थान है। मिथकों के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन किया जाता है। इस आलोचना में मनोविज्ञान का प्रभाव लक्षित होता है। इसके अंतर्गत साहित्य का मूल मानव वृतियों के साथ सहजात संबंध स्थापित करते हुए उसे एक व्यापक पीठिका पर प्रतिष्ठित किया जाता है। इसका अध्ययन मानव चेतना की अन्य अभिव्यक्तियों जैसे- जीवविज्ञान, नृतत्वशास्त्र, मनोविज्ञान, भाषाविज्ञान इत्यादि के परिप्रेक्ष्य में ही संभव है।

2.5.8 सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना

सौंदर्य शास्त्र कोई आलोचना दृष्टि नहीं है। यह साहित्य सृजन और साहित्य अध्ययन को सूक्ष्म दिशा देने वाली एक प्राविधि है, जिसके माध्यम से साहित्यिक कृति का अनेक धरातलों पर अध्ययन विवेचन किया जा सकता है। भारतीय संदर्भ में सौंदर्यशास्त्र की पृष्ठभूमि नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र में दिखाई पड़ती है। डॉ. नगेंद्र का यह मानना है कि ''सौंदर्यशास्त्र भारतीय वाङ्मय के लिए एक नया शब्द है।'' हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओँ में इस शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'एस्थेटिक्स' के पर्याय के रूप में हुआ है। 'एस्थेटिक्स' पाश्चात्य काव्यशास्त्र का शब्द है जिसका

अर्थ है- 'ऐंद्रिय संवेदन का शास्त्र' विचारकों की दृष्टि में सौंदर्य मूलत: एक प्रकार का ऐन्द्रिय संवेदन ही है।

2.5.9 शैलीवैज्ञानिक आलोचना

यह माना जाता है कि शैलीविज्ञान आलोचना का सिद्धांत ही नहीं, बल्कि साहित्यिक कृतियों के अध्ययन की प्रणाली और तकनीक भी है। यही कारण है कि शैली विज्ञान की प्रकृति एक ओर सैद्धांतिक है तो दूसरी ओर संक्रियात्मक भी है। इसीलिए शैली विज्ञान आलोचना में सिद्धांतों और इन सिद्धांतों के आधार पर वास्तव में किये गए पाठ विश्लेषण दोनों को समान महत्व दिया जाता है। यह आलोचना भाषिक संरचना पर विशेष बल देने के कारण शैली वैज्ञानिक आलोचना के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। डॉ. विद्यानिवास मिश्र, डॉ. नागेन्द्र, भोलानाथ तिवारी और डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी प्रमुख शैली वैज्ञानिक आलोचक हैं।



2.6 सारांश

आलोचना का स्वरूप बहुआयामी होता है, जो साहित्यिक कृति के रूप, विषयवस्तु, भाषा, शैली और भावबोध के गहन विश्लेषण से निर्मित होता है। इसके प्रकारों में ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, सौंदर्यात्मक, मार्क्सवादी, स्त्रीवादी आदि आलोचना प्रमुख हैं, जो विभिन्न दृष्टिकोणों से साहित्य का मूल्यांकन करते हैं। आलोचना-दृष्टियाँ समय, समाज और विचारधारा के अनुसार विकसित होती हैं—जैसे आचार्य शुक्ल की यथार्थवादी दृष्टि, नंददुलारे वाजपेयी की संस्कृतिक आलोचना या रामविलास शर्मा की मार्क्सवादी दृष्टि। इन सभी दृष्टियों का उद्देश्य साहित्यिक कृति के अंत:वस्तु को पहचानना और उसके सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों को उजागर करना है। आलोचना न तो पूर्णत: विषय पर केंद्रित होती है, न ही केवल शैली पर, बल्कि वह दोनों के संतुलन को साधते हुए पाठक को एक व्यापक दृष्टिकोण प्रदान करती है। इस प्रकार, आलोचना साहित्य की समझ को गहराई और दिशा प्रदान करती है।

2.7 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

प्रश्न संख्या 1. का उत्तर : आचार्य रामचंद्र शुक्ल।

प्रश्न संख्या 2. का उत्तर : आलोचनात्मक।

प्रश्न संख्या 3. का उत्तर : आचार्य रामचंद्र शुक्ल।

प्रश्न संख्या 4. का उत्तर : डॉ. शिवकुमार मिश्र।

प्रश्न संख्या 5. का उत्तर : पाने के लिए इकाई को ध्यान से पढ़िए।

प्रश्न संख्या 6. का उत्तर : आलोचना की दृष्टियों को विषद रूप से समझिये।

प्रश्न संख्या 7. का उत्तर : पाने के लिए इकाई को ध्यान से पढ़िए।

प्रश्न संख्या 8. का उत्तर : रामविलास शर्मा, रांगेय राघव।

प्रश्न संख्या 9. का उत्तर : पाने के लिए इकाई को ध्यान से पढ़ें।

प्रश्न संख्या 10. का उत्तर : आनंदवर्धन।



2.8 अधिक जानने के लिए पढ़े

- मधुरेश. (2015). हिंदी आलोचना का विकास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन।
- त्रिपाठी, विश्वनाथ. (1992). हिंदी आलोचना. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
- यादव, अरविन्द. (प्रकाशन वर्ष उपलब्ध नहीं). आधुनिक हिंदी आलोचना. नोसन प्रेस।
- नवल, नंदकिशोर. (2023). हिंदी आलोचना का विकास. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
- शुक्ल, आचार्य रामचंद्र. (1939). चिंतामणि (भाग-1). इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन।
- सिंह, नामवर. (1954). आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ. इलाहाबाद: किताब महल।
- सिंह, गोपेश्वर. (2011). आलोचना का नया पाठ. दिल्ली: किताब घर प्रकाशन।
- सिंह, नामवर. (1968). छायावाद. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
- सिंह, नामवर. (1990). वाद-विवाद संवाद. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।

2.9 अभ्यास पश्न

क) संक्षिप्त प्रश्नों के उत्तर लिखिए :

1. आलोचना शब्द से आप क्या समझते हैं?

2. आलोचना मूलत: कितने प्रकार के है?
3. मार्क्सवादी आलोचना किस दर्शन से प्रभावित है?
4. 'आलोचना के मान' किसका ग्रन्थ है?
5. पद्धति के अनुसार व्यावहारिक आलोचना के नाम उल्लेख कीजिए।

ख) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखिए

1. आलोचना के अर्थ को स्पष्ट करते हुए हिंदी आलोचना के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
2. आलोचना कितने प्रकार के हैं और क्या-क्या हैं उदहारण सहित स्पष्ट कीजिए।
3. किन्हीं एक मार्क्सवादी आलोचकों के नाम बताते हुए-मार्क्सवादी आलोचना पर एक सार्थक आलेख प्रस्तुत कीजिए।
4. आलोचना के किन्ही पाँच दृष्टियों की व्याख्या कीजिए।

*****

इकाई 3 : हिंदी आलोचना उद्भव और विकास

इकाई की रूपरेखा

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3 हिंदी आलोचना के उद्भव

3.4 हिंदी आलोचना के विकास

- 3.4.1 आचार्य रामचंद्र शुक्ल
- 3.4.2 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
- 3.4.3 मार्क्सवादी आलोचना
- 3.4.4 आधुनिकवादी आलोचना
- 3.4.5 प्रगतिवादी आलोचना
- 3.4.6 नई कविता और नई आलोचना
- 3.4.7 उत्तर-आधुनिक आलोचना और समकालीन प्रवृत्तियाँ

3.5 सारांश

3.6. प्रगतिविवरण (केवल रूपरेखा)

3.7 अधिक जानने के लिए पढ़े

3.8 अभ्यास प्रश्न

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप

- हिन्दी आलोचना के उद्भव और विकास को समझ सकेंगे।
- स्वतंत्रतापूर्व और स्वातंत्र्योत्तर हिंदी आलोचना के बारे में ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम होंगे।
- हिंन्दी आलोचना के इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के योगदान, दोनों के महत्व को मूल्यांकन कर पाएँगे।
- हिंदी आलोचना के इतिहास में मार्क्सवादी आलोचना के योगदान और उसकी वैचारिक पृष्ठभूमि को समझेंगे।
- हिंदी आलोचना में आधुनिकतावादी दृष्टिकोण की भूमिका और प्रभाव के

बारे में एक समग्र धारणा निर्मित करेंगे।

- नई कविता और नई आलोचना की प्रवृत्तियों तथा उनके परस्पर संबंधों के बारे में ज्ञान अर्जित करेंगे।
- उत्तर- आधुनिक आलोचना तथा समकालीन आलोचनात्मक प्रवृत्तियों को समझ कर साहित्यिक विमर्श में उनकी प्रासंगिकता का विश्लेषण करेंगे।

3.2 प्रस्तावना

हिंदी आलोचना साहित्यिक अध्ययन की वह शाखा है, जो साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन, विश्लेषण और व्याख्या करती है। यह लेखक की रचना, उसके भाव, शैली, उद्देश्य तथा सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को समझने में सहायक होती है। हिंदी आलोचना का विकास हिंदी साहित्य के साथ-साथ हुआ है, जिसमें भारतेन्दु युग से आधुनिक युग तक विभिन्न आलोचकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

हिंदी साहित्य के आधुनिक युग के भारतेंदु युग में कई साहित्यिक विधाओं का नवीनीकरण हुआ, जिनमें से आलोचना भी एक है। आधुनिक दृष्टि से सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाते हुए भारतेंदु ने आलोचना को साहित्य का एक निविच्छिन्न अंग मानते हुए इसे एक नया आकार दिया। फिर इसे व्यवस्थित करने का कार्य किया आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने। उन्होंने '*हिन्दी साहित्य का इतिहास*' लिखा, रस का विधिवत विवेचन किया, '*हिन्दी शब्द सागर*' के निर्माण में सहयोगी तथा तुलसीदास, सूरदास और जायसी पर भी विस्तृत समीक्षाएँ लिखें। आगे चलकर आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी आलोचना को विस्तारित किया। रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह आदि आलोचकों ने हिंदी आलोचना को सिद्धांत और दृष्टिकोण प्रदान किए। हिंदी आलोचना केवल दोष निकालने की प्रक्रिया नहीं, बल्कि रचनात्मक संवाद की प्रक्रिया है, जो पाठक, लेखक और समाज के बीच एक सेतु का कार्य करती है। समकालीन आलोचना में स्त्रीवादी, दलित, उत्तर-आधुनिक और सांस्कृतिक आलोचना जैसे नए विमर्शों का समावेश हुआ है, जिससे हिंदी आलोचना और भी व्यापक और समावेशी बन गई है।

इस इकाई के अध्ययन के माध्यम से आप यह समझ सकेंगे कि प्रारंभिक काल में हिंदी आलोचना केवल पुस्तक-परिचय और साधारण गुण-दोष विवेचन तक सीमित थी, लेकिन समय के साथ इसमें विभिन्न आलोचना-पद्धतियों का

विकास हुआ। परिणामस्वरूप, यह गद्य विधा इतनी समर्थ और प्रभावशाली बन गई कि उसने रचना के समकक्ष अपनी विशिष्ट पहचान बना ली। कई आलोचकों की उत्कृष्ट आलोचनात्मक कृतियों ने यह सिद्ध कर दिया कि आलोचना केवल रचना का अनुसरण नहीं करती, बल्कि वह स्वयं भी एक स्वतंत्र और सृजनात्मक विधा है। इस इकाई में आप हिंदी आलोचना के विकास-क्रम का आलोचनात्मक अवलोकन करेंगे तथा उसकी शक्ति और सीमाओं को भी समझ पाएँगे। उम्मीद है कि इस अध्याय का अध्ययन करने के पश्चात आप हिंदी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियों, विशेषताओं और पद्धतियों को भली-भांति समझ सकेंगे, साथ ही यह भी जान पाएँगे कि हिंदी आलोचना में समय-समय पर किस प्रकार के परिवर्तन या मोड़ आते रहे हैं।

3.3 हिंदी आलोचना के उद्भव

हिन्दी आलोचना का विधिवत आरम्भ, आधुनिक काल में; खड़ी बोली में विकसित हुआ, हालाँकि ब्रजभाषा में संस्कृत काव्यशास्त्र की मान्यताओं से हिन्दी कविता परिचित हो चुकी थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी आलोचना की नींव रखी। उनके पश्चात आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसका विस्तार किया। बाद में हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना, प्राचीन काव्यशास्त्रीय आलोचना और आधुनिकतावादी आलोचना का विकास हुआ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार हिन्दी आलोचना का प्रारम्भ ब्रजभाषा में हुआ। उनके अनुसार कृपाराम की '*हिततरंगिणी*' में थोड़ा-बहुत रस निरूपण मिलता है। उनके पश्चाअत आचार्य केशवदास ने ''काव्य रीति का सम्यक समावेश पहले-पहले किया था। लेकिन हिन्दी में रीति-ग्रन्थों की 'अविरल और अखण्डित परम्परा का प्रसार केशवदास की '*कविप्रिया*' के तीस वर्ष बाद से चला।'' हिन्दी में रीतिकाल में अनेक रीति ग्रन्थ लिखे गए, परन्तु उन ग्रन्थों में मौलिक शास्त्र-निरूपण नहीं मिलता, सिर्फ संस्कृत काव्यशास्त की 'संक्षिप्तम उद्धरणी' मिलती है। आचार्य शुक्ल ने संस्कृत काव्यशास्त्र की विशेषता स्पष्ट करते हुए लिखा, ''संस्कृत में समालोचना का पुराना ढंग यह था कि जब भी कोई आचार्य या साहित्य मीमांसक कोई नया लक्षण-ग्रन्थ लिखता था तब जिन काव्य रचनाओं को वह उत्कृष्ट समझता था। उन्हें रस, अलंकार आदि के रूप में उद्धृत

करता था और जिन्हें दुष्ट- समझता था उदाहरणों में देता था।'' यही परम्परा हिन्दी के रीति ग्रन्थकारों ने भी अपना रखी थी।

इस विकास यात्रा का सबसे महत्वपूर्ण पड़ाव आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साथ जुड़ा है। उन्होंने आलोचना को तर्क, इतिहासबोध और सामाजिक दृष्टि से जोड़ा। उनकी दृष्टि में साहित्य का उद्देश्य लोकमंगल था। उन्होंने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' और अन्य निबंधों के माध्यम से आलोचना को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया। इससे आलोचना एक सैद्धांतिक विधा के रूप में स्थापित हुई। सम्पूर्ण हिन्दी आलोचना की प्रकृति को देखकर यह कहा जा सकता है कि हिन्दी आलोचना मुख्यत: व्यावहारिक आलोचना है पर हिन्दी आलोचना साहित्यिक सिद्धान्तों का उपयोग करती है, शास्त्र चिन्तन की तरफ वह उतनी विकसित नहीं हो पा रही है।



अपनी प्रगति जांचें

प्रश्न संख्या 1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार हिन्दी आलोचना का प्रारम्भ किस भाषा में हुआ?

प्रश्न संख्या 2. हिन्दी आलोचना का विधिवत आरम्भ किस काल में खड़ी बोली में हुआ?

प्रश्न संख्या 3. कृपाराम की कृति का नाम क्या है?

प्रश्न संख्या 4. 'कविप्रिया' के रचनाकार का नाम क्या है?

प्रश्न संख्या 5. 'हिंदी साहित्य का इतिहास' पुस्तक के लेखन का नाम क्या है?

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार हिन्दी आलोचना का प्रारम्भ ब्रजभाषा में हुआ। उनके अनुसार कृपाराम की '*हिततरंगिणी*' में थोढ़ा-बहुत रस निरूपण मिलता है। उनके पश्चात आचार्य केशवदास ने ''काव्य रीति का सम्यक समावेश पहले-पहले किया था। लेकिन हिन्दी में रीति-ग्रन्थों की 'अविरल और अखण्डित परम्परा का प्रसार केशवदास की *कविप्रिया* के तीस वर्ष बाद से चला।'' हिन्दी में रीतिकाल में अनेक रीति ग्रन्थ लिखे गए, परन्तु उन ग्रन्थों में मौलिक शास्त्र -निरूपण नहीं मिलता, सिर्फ संस्कृत काव्यशास्त्र की 'संक्षिप्त उद्धरणी' मिलती है। आचार्य शुक्ल ने संस्कृत काव्यशास्त्र की विशेषता स्पष्ट करते हुए लिखा, ''संस्कृत में समालोचना का पुराना ढंग यह था कि जब भी कोई आचार्य या

साहित्य मीमांसक कोई नया लक्षण-ग्रन्थ लिखते थे तब जिन काव्य रचनाओं को वह उत्कृष्ट समझते थे उन्हें रस, अलंकार आदि के रूप में उद्धृत करता था और जिन्हें दुष्ट समझता था उदाहरणों में देता था।'' यही परम्परा हिन्दी के रीति ग्रन्थकारों ने भी अपना रखी थी।

इस तरह हम कह सकते हैं कि हिन्दी आलोचना का विकास संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा से नहीं हुआ। हिन्दी में आलोचना की परम्परा 'यूरोप' से आई। हिन्दी आलोचना के विकास पर बात करने वाले आलोचकों का विचार है कि हिन्दी आलोचना का प्रारम्भ भारतेन्दु युग में हुआ था और पुस्तक-समीक्षा के रूप में इसका जन्म हुआ। हिन्दी साहित्य का इतिहास में आचार्य शुक्ल ने लिखा है- ''समालोचना का सूत्रपात हिन्दी में एक प्रकार से भट्टजी और चौधरी साहब ने ही किया था। समालोच्य पुस्तक के विषयों का अच्छी तरह विवेचन करके उसके गुण-दोषों के विस्तृत निरूपण की चाल उन्हीं ने चलाई। बाबू गदाधर सिंह ने 'बंग विजेता' का जो अनुवाद किया था उसकी आलोचना 'कादम्बनी' में पाँच पृष्ठों में हुई थी। लाला श्रीनिवासदास के '*संयोगितास्वयंवर*' की बड़ी विस्तृत और कठोर समालोचना चौधरीजी ने कादम्बिनी के इक्कीस पृष्ठों में निकाली थी।'' भारतेन्दु युग के पश्चात किसी पुस्तक की आलोचना के लिए नई पुस्तक लिखने का काम सबसे पहले महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया। इस विषय पर हिन्दी में '*कालिदास की आलोचना*' इस तरह की पहली पुस्तक है। इसके बाद फिर हिन्दी में कई आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित हुई।



महत्वपूर्ण बिंदु

- हिंदी आलोचना का प्रारंभ 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में होता है।
- भारतेंदु युग में साहित्य की सामाजिक उपयोगिता और नैतिकता को केंद्र में रखकर आलोचना की जाती थी।
- आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी आलोचना को वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और वस्तुपरक आधार प्रदान किया।
- शुक्ल के बाद हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह, नंददुलारे वाजपेयी, रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, नागेन्द्र आदि आलोचकों ने विविध दृष्टिकोणों से आलोचना को समृद्ध किया।

- हिन्दी आलोचना के प्रारम्भिक विकास में 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' (सन् 1893) का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। नागरी प्रचारिणी सभा ने भारत के प्राचीन साहित्य की खोज का कार्य अपने हाथ में लिया। सभा की खोज की रिपोर्टें प्रकाशित होने लगीं। सभा ने हिन्दी भाषा का व्याकरण तैयार किया, हिन्दी शब्द-कोश का निर्माण कार्य किया। हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास लिखवाया। हिन्दी की अत्यन्त महत्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिका सरस्वती का प्रकाशन किया।

3.4 हिंदी आलोचना के विकास

हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक पक्ष साहित्यिक चेतना का अत्यंत महत्वपूर्ण भाग है। आलोचना साहित्यिक परंपरा को समझने, मूल्यांकन करने और दिशा देने का कार्य करती है। हिंदी आलोचना का विकास साहित्य के विकास के साथ-साथ हुआ है। प्रारंभ में जहां आलोचना नैतिकता और आदर्शों की कसौटी पर आधारित थी, वहीं बाद में यह ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और भाषिक दृष्टियों से समृद्ध होती चली गई। नीचे हम हिंदी आलोचना के विकास को विभिन्न युगों और दृष्टियों के आधार पर समझने का प्रयास करेंगे।

3.4.1 प्रारंभिक आलोचना (भारतेंदु युग)

हिंदी साहित्य के इतिहास में भारतेंदु युग (1868-1885) को नवजागरण काल कहा जाता है। यह युग हिंदी गद्य और कविता दोनों के विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारतेंदु हरिश्चंद्र इस युग के केंद्रीय व्यक्तित्व थे, जिन्होंने हिंदी भाषा, साहित्य, पत्रकारिता और नाटक को नई दिशा दी। उन्होंने न केवल स्वयं उत्कृष्ट रचनाएं कीं, बल्कि अन्य लेखकों को भी प्रेरित किया। इस युग की आलोचना मुख्यत: नैतिकतावादी और देशभक्ति से प्रेरित थी। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने साहित्य को 'लोकहित' और 'निजहित' का साधन माना। आलोचना का उद्देश्य साहित्य को समाज के अनुकूल बनाना था। उस समय समीक्षा अधिकतर रचनाओं की विषयवस्तु, भाषा और उपयोगिता के आधार पर होती थी। यह आलोचना अभी व्यवस्थित नहीं थी, लेकिन उसने आगे के विकास की नींव रखी।

भारतेंदु युग में हिंदी आलोचना की नींव पड़ी। इस समय साहित्य को सामाजिक जागरूकता, राष्ट्रीय चेतना और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का माध्यम बनाया गया। आलोचना का कार्य मुख्यत: पत्रकारिता, निबंधों और प्रस्तावनाओं के माध्यम से हुआ। भारतेंदु जी ने ''कवि वचन सुधा'', ''हरिश्चंद्र चंद्रिका'', और ''हरिश्चंद्र मैगज़ीन'' जैसे पत्रिकाओं के माध्यम से साहित्य और समाज की समस्याओं पर विचार प्रकट किए। इस युग की आलोचना सामाजिक सरोकारों से जुड़ी हुई थी। भारतेंदु ने सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक पाखंड और अंग्रेजी शासन की नीतियों की आलोचना की। उनकी आलोचना में नैतिक दृष्टिकोण, भारतीय सांस्कृतिक गौरव और राष्ट्रप्रेम की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। भारतेंदु युग हिंदी आलोचना का आरंभिक चरण है, जहाँ साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन न होकर समाज सुधार और राष्ट्रीय चेतना का प्रसार भी था। यह युग हिंदी आलोचना के विकास की आधारशिला रखता है।

3.4.2 द्विवेदी युग की आलोचना (1890-1918)

द्विवेदी युग हिंदी साहित्य के इतिहास में एक महत्वपूर्ण चरण है, जिसे ''मौलिक विचारों का युग'' या ''आलोचना के विकास का युग'' भी कहा जाता है। इस युग का नाम आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर पड़ा, जिन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से हिंदी साहित्य को नई दिशा दी और आलोचना को एक विधा के रूप में स्थापित किया। द्विवेदी युग की आलोचना में तर्क, विवेक, शास्त्रगत दृष्टिकोण और नैतिक मूल्यों पर विशेष बल दिया गया। आचार्य द्विवेदी ने साहित्य को समाज सेवा और चरित्र निर्माण का माध्यम माना। उन्होंने लेखकों को साहित्य के माध्यम से राष्ट्र, समाज और व्यक्ति के उत्थान का संदेश देने की प्रेरणा दी।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से न केवल हिंदी भाषा और शैली को परिष्कृत किया, बल्कि आलोचना को एक दिशा और दृष्टिकोण भी प्रदान किया। उन्होंने रचनाओं की भाषा, व्याकरण, कथ्य और उद्देश्य पर विशेष ध्यान दिया। इस युग में साहित्य की उपयोगिता, नैतिकता और शिक्षाप्रदता प्रमुख आलोचनात्मक कसौटियाँ थीं। इस युग की आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता थी-शास्त्रीयता और उद्देश्यपूर्णता। द्विवेदी जी ने रचनाओं की भाषागत शुद्धता, विषय की गंभीरता और नैतिक दृष्टिकोण पर बल दिया।

उन्होंने भक्ति, श्रृंगार और रहस्यवाद के स्थान पर यथार्थवाद, देशभक्ति और समाज सुधार को साहित्य का विषय बनाया। द्विवेदी युग में आलोचना एक विधा के रूप में विकसित हुई। इस युग में प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त आदि लेखकों ने अपने लेखों और समीक्षाओं के माध्यम से आलोचना को बल प्रदान किया। आलोचना अब केवल भाव-वर्णन न रहकर तर्कशील विश्लेषण बन गई।

3.4.3 शुक्ल युग (1918-1941) : आलोचना का वैज्ञानिक आधार

हिंदी साहित्य में आलोचना का संगठित और सैद्धांतिक विकास शुल्क युग से माना जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल को हिंदी का पहला वैज्ञानिक और ऐतिहासिक आलोचक माना जाता है। उन्होंने आलोचना को भावुकता और अंध-आस्था से निकालकर तर्क और विवेक पर आधारित किया। उन्होंने न केवल हिंदी आलोचना को एक वैज्ञानिक, तर्कपूर्ण और ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रदान किया, बल्कि इसे एक स्वतंत्र साहित्यिक विधा के रूप में प्रतिष्ठित भी किया। उनकी कृति 'हिंदी साहित्य का इतिहास' और निबंध 'काव्य में रहस्यवाद', 'सौंदर्य और उसका आस्वादन', 'कविता क्या है?' आदि आलोचना के स्तरीय उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने तुलसी,सूरदास जैसे कवियों की कृतियों का गंभीर विश्लेषण किया और उनमें निहित सामाजिक, आध्यात्मिक और कलात्मक मूल्यों को रेखांकित किया।

शुक्ल युग की आलोचना विचारप्रधान, तात्विक और विवेकपूर्ण थी। इस युग में आचार्य शुक्ल ने साहित्य के मूल्यांकन के लिए ''लोकमंगल'' की दृष्टि को केंद्र में रखा। उनका मानना था कि साहित्य का उद्देश्य मानव जीवन को उन्नत बनाना और समाज के हित में कार्य करना होना चाहिए। वे साहित्य को केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन का उपकरण मानते थे। शुक्ल ने रचना के सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भ को महत्त्व दिया और आलोचना को एक विवेकपूर्ण अनुशासन के रूप में प्रतिष्ठित किया। वे साहित्य को समाज का दर्पण मानते थे और उसका मूल्यांकन उसकी सामाजिक उपयोगिता, यथार्थता और मानवतावाद के आधार पर करते थे। शुक्ल युग ने हिंदी आलोचना को विचारधारा, तर्क और सामाजिक सरोकारों से जोड़ा। यह युग आलोचना को एक गहन अनुशासन के रूप में स्थापित करने वाला युग था, जिसने आने

वाली पीढ़ियों के लिए ठोस बौद्धिक आधार तैयार किया।

3.4.4 हजारीप्रसाद द्विवेदी और सांस्कृतिक आलोचना

आचर्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिंदी आलोचना का अगला बड़ा नाम आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी जी का आता है। जिन्होंने आलोचना को एक व्यापक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में देखा। वे केवल साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन नहीं करते थे, बल्कि उनके पीछे छिपी सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और दार्शनिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते थे। उनकी आलोचना में भारतीय संस्कृति की गहरी समझ, परंपरा का सम्मान और आधुनिक दृष्टिकोण का संतुलन दिखाई देता है। उन्होंने कबीर दास, सूर दास, तुलसी दास जैसे कवियों की रचनाओं की गहराई में जाकर उनका पुनर्मूल्यांकन किया।

द्विवेदी जी की आलोचना पद्धति को सांस्कृतिक आलोचना कहा जाता है क्योंकि वे साहित्य को समाज और संस्कृति के व्यापक संदर्भों में रखकर देखते थे। उनके अनुसार, साहित्य न केवल व्यक्तिगत अभिव्यक्ति है, बल्कि वह समाज की चेतना, उसकी जिजीविषा और उसकी सांस्कृतिक यात्रा का दस्तावेज भी होता है। वे आलोचना को महज गुण-दोष की गणना न मानकर एक बौद्धिक संवाद की प्रक्रिया मानते थे। उनकी प्रसिद्ध आलोचनात्मक कृतियाँ जैसे ''कबीर'', ''सूर साहित्य'', और ''हिंदीतर साहित्य'' सांस्कृतिक विश्लेषण की उत्कृष्ट मिसालें हैं। उन्होंने कबीर की वाणी में सामाजिक विद्रोह, सूफी और भक्ति परंपरा का समन्वय, तथा लोकसंस्कृति का सशक्त चित्रण प्रस्तुत किया।

द्विवेदीजी की आलोचना में भाषा की कलात्मकता, शैली की लय और संदर्भ की गहराई स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। उन्होंने हिंदी आलोचना को आध्यात्मिकता और सांस्कृतिक चेतना से समृद्ध किया।

3.4.5 प्रगतिवादी आलोचना (1936 के बाद)

1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के साथ ही हिंदी आलोचना में एक नई दिशा का सूत्रपात हुआ। अब आलोचना का केंद्रबिंदु वर्ग-संघर्ष, सामाजिक शोषण, असमानता और यथार्थ बन गया। प्रगतिवादी आलोचकों ने साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का उपकरण माना। प्रगतिवादी आलोचना का मुख्य उद्देश्य यह था कि साहित्य केवल सौंदर्य या भावनाओं की अभिव्यक्ति

तक सीमित न रहे, बल्कि वह समाज की अन्यायपूर्ण संरचना के विरुद्ध संघर्ष करे और एक नए, समानतावादी समाज के निर्माण में सहायक बने। इसमें वर्ग-संघर्ष, आर्थिक असमानता, स्त्री-विमर्श, जातिगत भेदभाव, औपनिवेशिक शोषण आदि मुद्दों को प्रमुखता से उठाया गया। इस धारा के प्रमुख आलोचक थे - रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, नंददुलारे वाजपेयी आदि। प्रगतिवादी आलोचना ने यथार्थवाद को महत्व दिया और जीवन के कटु यथार्थ को साहित्य में स्थान दिलाया। इसने भावुकता और रहस्यवाद की जगह तर्क, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और जनहित को प्राथमिकता दी।

रामविलास शर्मा ने साहित्य को समाज, इतिहास और वर्गचेतना से जोड़ते हुए गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया। उनकी भाषा सशक्त और विश्लेषणात्मक थी। उन्होंने तुलसीदास, निराला, प्रेमचंद जैसे लेखकों की रचनाओं का समाजशास्त्रीय मूल्यांकन किया।



अपनी प्रगति जांचें

पश्न संख्या 6. प्रगतिवादी आलोचना पर चर्चा कीजिए?

पश्न संख्या 7. भारतेंदु युग की आलोचना की क्या विशेषता है?

पश्न संख्या 8. द्विवेदी युग में प्रकाशित प्रमुख पत्रिका कौन सी है?

पश्न संख्यां 9. 'सूर साहित्य' के रचनाकार कौन है?

पश्न संख्या 10. 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना कब हुई थी?

3.4.6 नई कविता और नई आलोचना (1950-1970)

नई कविता के साथ-साथ हिंदी में नई आलोचना का जन्म हुआ, जिसमें व्यक्तित्व, मनोविज्ञान, प्रतीक, बिंब, शैली और शिल्प पर अधिक ध्यान दिया गया। आलोचना अब केवल सामाजिक संदर्भों तक सीमित न रहकर कलात्मकता, अनुभूति और पाठकीय प्रतिक्रिया की ओर मुड़ी। नई कविता परंपरागत छंद, विषयवस्तु और आदर्शवादी दृष्टिकोण से हटकर आधुनिक व्यक्ति की जटिल मनोदशाओं, अस्तित्व की चिंता, नगरीय जीवन की विडंबनाओं और व्यक्तिगत अनुभवों को अभिव्यक्त करने लगी। अज्ञेय, शमशेर बहादुर सिंह, मुक्तिबोध, केदारनाथ सिंह, रघुवीर सहाय जैसे कवियों ने इस धारा को समृद्ध किया। इनकी कविताओं में प्रतीक, बिंब, गूढ़ता और आत्मसंधान की प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं। नई

कविता की इस जटिलता और वैचारिक गहराई को समझने और विश्लेषित करने के लिए नई आलोचना की आवश्यकता महसूस हुई। नई आलोचना का प्रमुख उद्देश्य साहित्यिक पाठ के सौंदर्यशास्त्र, भाषा, संरचना, प्रतीकों और अभिव्यक्ति की बारीकियों का विश्लेषण करना था। यह आलोचना पाठ-केंद्रित थी, जिसमें लेखक की जीवनी या सामाजिक पृष्ठभूमि की अपेक्षा रचना को ही प्रमुख माना गया।

नामवर सिंह ने 'कविता के नए प्रतिमान' जैसी कृति में नई कविता की बारीकियों का सूक्ष्म विश्लेषण किया। उन्होंने आलोचना को तर्क, विवेक और आधुनिक सैद्धांतिक आधार प्रदान किए। इसके साथ ही डॉ. नरेन्द्र, रामस्वरूप चतुर्वेदी, नंदकिशोर नवल, शिवदान सिंह चौहान आदि ने भी आलोचना को सैद्धांतिक गहराई प्रदान की। इन्होंने रचना की भीतरी संरचना, भाषिक संवेदनशीलता और शैलीगत विशेषताओं पर ध्यान केंद्रित किया।

3.4.7 उत्तर-आधुनिक आलोचना और समकालीन प्रवृत्तियाँ

1970 के बाद हिंदी आलोचना में उत्तर-आधुनिकता, स्त्रीवादी, दलित और बहुजन दृष्टियों का प्रवेश हुआ। अब आलोचना बहुआयामी और बहुस्तरीय हो गई। रचना को सामाजिक, जातीय, लैंगिक और राजनीतिक सन्दर्भों में देखा जाने लगा।

- **स्त्रीवादी आलोचना** ने स्त्रीवादी आलोचना साहित्य में स्त्री के अनुभव, दृष्टिकोण और शोषण के प्रतिरोध की वैचारिक प्रक्रिया है। यह पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण से लिखे गए साहित्य की पुनर्व्याख्या करती है और स्त्रियों की आवाज़ को केंद्र में लाती है। हिंदी में स्त्रीवादी आलोचना ने 1980 के बाद गति पकड़ी। इस धारा की प्रमुख लेखिकाओं में मन्नू भंडारी, महादेवी वर्मा, कृष्णा सोबती, मैत्रेयी पुष्पा और उषा प्रियंवदा का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने स्त्री की अस्मिता, आत्मनिर्णय और सामाजिक संघर्ष को अपनी रचनाओं में प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया।
- **दलित आलोचना** ने दलित आलोचना हिंदी साहित्य की वह धारा है जो दलितों के शोषण, उत्पीड़न और सामाजिक बहिष्कार के अनुभवों को केंद्र में रखती है। यह साहित्यिक मूल्यांकन की एक

नई दृष्टि प्रदान करती है, जो समानता, सामाजिक न्याय और आत्मसम्मान की बात करती है। दलित आलोचना ब्राह्मणवादी साहित्यिक परंपराओं को चुनौती देकर वंचितों की आवाज़ को साहित्य में स्थान दिलाती है। इसके प्रमुख लेखकों में ओमप्रकाश वाल्मीकि, सूरज पाल चौहान, कंवल भारती, शरण कुमार लिंबाळे और हीरा डोम के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी रचनाएँ दलित जीवन की पीड़ा, विद्रोह और जागरूकता को अभिव्यक्त करती हैं।

- **उत्तर-आधुनिक आलोचना** ने उत्तर आधुनिक आलोचना एक ऐसी साहित्यिक प्रवृत्ति है जो स्थापित मान्यताओं, केंद्रीय विचारों और सत्ता के विमर्शों को प्रश्नांकित करती है। यह विविधता, बहुलता, विखंडन और पाठ-केंद्रित दृष्टिकोण को महत्व देती है। उत्तर आधुनिक दृष्टिकोण में कोई भी ''एकमात्र सत्य'' नहीं होता, बल्कि सत्य बहुस्वर में व्यक्त होता है। हिंदी में उत्तर आधुनिक आलोचना ने परंपरा, इतिहास और भाषा की पुनर्व्याख्या की। इसके प्रमुख आलोचकों में नामवर सिंह, राजेंद्र कुमार, अरुण कमल, मैनेजर पांडेय और विश्वनाथ त्रिपाठी उल्लेखनीय हैं। इन्होंने साहित्य को नए विमर्शों से जोड़कर आलोचना को व्यापक और समकालीन बनाया।



3.5 सारांश

हिंदी आलोचना का विकास एक निरंतर प्रक्रिया है, जिसमें समय-समय पर नए दृष्टिकोण, संदर्भ और सरोकार जुड़ते रहे हैं। भारतेंदु युग की नैतिक समीक्षा से लेकर शुक्ल की वैज्ञानिक आलोचना, द्विवेदी की सांस्कृतिक दृष्टि, प्रगतिवाद की समाजपरक व्याख्या और समकालीन विमर्शों तक, हिंदी आलोचना ने अपने स्वरूप और विधा में गहरी विविधता अर्जित की है।

आज आलोचना केवल साहित्य की विवेचना मात्र नहीं, बल्कि समाज, संस्कृति, राजनीति और सत्ता-संबंधों की पड़ताल का सशक्त माध्यम बन गई है। यह पाठक को सोचने, समझने और नए दृष्टिकोणों को अपनाने की प्रेरणा देती है। अत: हिंदी आलोचना साहित्यिक विकास की धुरी है, जिसकी गति के बिना साहित्य अधूरा है।

इसे भी जान लीजिए :

हिन्दी आलोचना का वास्तविक आरम्भ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से माना जाता है। उन्होंने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखकर सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की रूपरेखा प्रस्तुत की। इस इतिहास में उन्होंने सभी कवियों-रचनाकारों का स्थान निर्धारित कर दिया, थोड़े-बहुत फेर-बदल के साथ वे स्थान निर्धारण आज भी मान्य हैं। उन्होंने रीतिकाल के कवियों देव और बिहारी के झगड़े को समाप्त करके यह स्थापित किया कि घनानन्द साक्षात् रसमूर्ति थे। इसके साथ ही उन्होंने हिन्दी साहित्य को समझने की एक दृष्टि दी, जो आज हिन्दी के लेखकों और पाठकों का साहित्यिक संस्कार बनी हुई है। हिन्दी साहित्य का इतिहास के अलावा आचार्य शुक्ल ने गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास और जायसी पर विस्तृत समीक्षाएँ लिखीं। 'लोकमंगल' इत्यादि नए अवधारणात्मक पद दिए।

3.6 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

प्रश्न संख्या 1. का उत्तर : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार हिन्दी आलोचना का प्रारम्भ ब्रजभाषा में हुआ।

प्रश्न संख्या 2. का उत्तर : हिन्दी आलोचना का विधिवत आरम्भ आधुनिक काल में खड़ी बोली में विकसित हुआ।

प्रश्न संख्या 3. 'हिततरंगिणी'।

प्रश्न संख्या 4. केशवदास।

प्रश्न संख्या 5. आचार्य रामचंद्र शुक्ल।

प्रश्न संख्या 6. का उत्तर : इस उत्तर के लिए इकाई को ध्यान से पढ़ने के अलावा दूसरी सन्दर्भ ग्रन्थ से भी मदद ले सकते है।

प्रश्न संख्या 7. लोकहित और निजहित।

प्रश्न संख्या 8. सरस्वती।

प्रश्न संख्या 9. हजारीप्रसाद द्विवेदी।

प्रश्न संख्या 10. सन् 1936

पश्न संख्या 3. का उत्तर : इस उत्तर के लिए इकाई को ध्यान से पड़ने के अलावा दूसरी सन्दर्भ ग्रन्थ से भी मदद ले सकते है।



3.7 अधिक जानने के लिए पड़े

- मधुरेश. (2015). हिंदी आलोचना का विकास. इलाहाबाद: लोक भारती प्रकाशन।
- त्रिपाठी, विश्वनाथ. (1992). हिंदी आलोचना. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
- यादव, अरविन्द. (1993). आधुनिक हिंदी आलोचना. नोसन प्रेस।
- नवल, नंदकिशोर. (2023). हिंदी आलोचना का विकास. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
- शुक्ल, आचार्य रामचंद्र. (1939). चिंतामणि (भाग-1). इलाहाबाद : लोक भारती प्रकाशन।
- सिंह, नामवर. (1954). आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ. इलाहाबाद : किताब महल।
- सिंह, गोपेश्वर. (2011). आलोचना का नया पाठ. दिल्ली : किताब घर प्रकाशन।
- सिंह, नामवर. (1968). छायावाद. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
- सिंह, नामवर. (1990). वाद-विवाद संवाद. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
- (1976). आलोचना प्रक्रिया और स्वरूप. दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।



3.8 अभ्यास प्रश्न

क) संक्षिप्त प्रश्नों के उत्तर लिखिए-

1. हिंदी आलोचना का उद्भव कब से माना जाता है?
2. बंग विजेता का अनुवाद किसी ने किया था?
3. प्रगतिवादी आलोचन से आप क्या समझते है?
4. भारतेंदु द्वारा सम्पादित दो पत्रिकाओं के नाम लिखिए।
5. आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा रचित एक पुस्तक का नाम लिखिए।

ख) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखिए

1. हिंदी साहित्य के उद्भव और विकास पर एक आलेख प्रस्तुत कीजिए?
2. हिंदी आलोचना के उद्भव पर अपना मत पुष्ट कीजिए?
3. आलोचना से आप क्या समझते है? हिंदी साहित्य में प्रगतिवादी आलोचना पर एक लेख प्रस्तुत कीजिए।
4. उत्तर–आधुनिक आलोचना और समकालीन प्रवृत्तियों पर एक आलेख लिखिए।
5. हिंदी आलोचना के विकास में आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी के योगदान को अपने शब्दों में स्पष्ट कीजिए।

******

इकाई 4 : आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचनात्मक दृष्टि

इकाई की रूपरेखा

4.1 उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 शुक्ल का सामान्य परिचय

4.4 शुक्ल की आलोचनात्मक दृष्टि

4.5 शुक्ल की आलोचना का महत्व

4.6 सारांश

4.7 प्रगतिविवरण (केवल रूपरेखा)

4.8 अधिक जानने के लिए पढ़ें

4.9 अभ्यास प्रश्न

4.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप

- आचार्य रामचंद्र शुक्ल के जीवन और साहित्य के बारे में ज्ञान अर्जित कर सकेंगे।
- शुक्ल जी के आलोचनात्मक दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष रूप से परिचित होंगे।
- शुक्ल जी के आलोचना कार्य के महत्व को समझ पाएँगे।
- शुक्ल जी के आलोचना की सूक्ष्म से सूक्ष्म विशेषताओं से अवगत रहेंगे।
- काव्यशास्त्र और सौंदर्यबोध के संबंध में अपनी स्वतंत्र समझ विकसित करेंगे।
- छंदशास्त्र के प्रति शुक्ल जी के दृष्टिकोण को आलोचनात्मक रूप से आत्मसात करेंगे।

4.2 प्रस्तावना

हिंदी साहित्य में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की अपनी एक अलग पहचान है। वे हिंदी आलोचना के शिल्पकार माने जाते हैं और आधुनिक हिंदी साहित्य में उनका योगदान महत्वपूर्ण है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अत्यंत अल्पायु में ही कविता रचना प्रारंभ कर दी थी। हिंदी के लगभग सभी विद्वानों ने उनके लेखन

कौशल को स्वीकार किया है। हिंदी साहित्य के क्षेत्र में उनका पहला उल्लेखनीय लेख 'भाषा का विस्तार' माना जाता है, जो वर्ष 1899 ई. में आनंदकादंबिनी पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। मिर्ज़ापुर में निवास के दौरान उन्होंने कई लेखों की रचना की। 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक कहानी में उन्होंने भारतीय स्थानों का सुंदर वर्णन किया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि कहानी विधा में भी उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने 'कविता क्या है?' नामक लेख भी लिखा, जिसमें काव्य के स्वरूप और उद्देश्य पर गहन विचार प्रस्तुत किए गए हैं। यही विचार आगे चलकर 'रसमीमांसा' में और अधिक विकसित रूप में देखने को मिलते हैं।

सन् 1908 में जब वे पंडित केदारनाथ पाठक के संपर्क में आए, तब उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हिंदी शब्दसागर में कार्य करना आरंभ किया। यह उनके जीवन का एक निर्णायक मोड़ सिद्ध हुआ। इस काल में उनकी साहित्यिक प्रतिभा ने परिपक्वता प्राप्त की। यहीं उन्होंने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' जैसी महान कृति की रचना की। इसके बाद 'तुलसी ग्रंथावली' लिखी, जिसमें तुलसीदास को उन्होंने अपना प्रिय कवि बताया। 'जायसी ग्रंथावली' के प्रकाशन के साथ ही वे हिंदी के शीर्ष आलोचकों में गिने जाने लगे। इस अवधि में उन्होंने कई महत्वपूर्ण साहित्यिक रचनाओं का अनुवाद भी किया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी साहित्य के महान आलोचक, साहित्यकार और काव्यशास्त्री थे, जिन्होंने हिंदी साहित्य की आलोचना और सैद्धांतिक नींव रखने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। उनका साहित्यिक दृष्टिकोण न केवल गहरे चिंतन पर आधारित था, बल्कि उन्होंने साहित्य की सृजन प्रक्रिया, उद्देश्य और आलोचना के सिद्धांतों पर भी अपना महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किया। शुक्ल जी ने साहित्य को केवल मनोरंजन का साधन नहीं माना, बल्कि उनका मानना था, कि साहित्य का प्रमुख उद्देश्य समाज और जीवन की सच्चाई को उजागर करना होता है।

उन्होंने साहित्यिक कृतियों के माध्यम से समाज की मानसिकता, संस्कृति, और सामाजिक समस्याओं को भी उजागर किया। उनका यह दृष्टिकोण आलोचना के क्षेत्र में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जिसमें केवल रचनात्मकता ही नहीं, बल्कि साहित्य के सामाजिक और नैतिक पहलुओं का भी विश्लेषण किया

गया। शुक्ल जी ने काव्यशास्त्र मंत रस, अलंकार और छंद की महत्ता को स्वीकारते हुए साहित्यिक कृतियों का विश्लेषण किया। उनकी काव्य-आलोचनाएँ हिंदी साहित्य में मील का पत्थर मानी जाती हैं, जो आज भी साहित्य के अध्ययन में प्रासंगिक हैं। उनका योगदान हिंदी साहित्य की आलोचना में विशेष महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल एक ऐसे आलोचक थे जिनकी आलोचना में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्ष स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। उनकी सैद्धान्तिक समीक्षा का प्रतिनिधि ग्रंथ 'रसमीमांसा' है, जबकि व्यावहारिक आलोचना का उत्कृष्ट रूप हमें 'तुलसी' और 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिकाओं, 'भ्रमरगीत सार' की भूमिका, तथा 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में वर्णित कवियों की संक्षिप्त लेकिन सारगर्भित टिप्पणियों में मिलता है। उन्होंने अपनी समीक्षा का आधार भारतीय रसवाद को माना और इसे ही पूर्ण एवं उपयुक्त मानदंड स्वीकार किया। शुक्ल जी ने जीवन के अनुभव, काव्य की भावभूमि और समीक्षा की विचारभूमि के बीच अद्वितीय संतुलन स्थापित किया। उनके सभी सिद्धांत अनुभवजन्य हैं, जिन्हें उन्होंने काव्य-प्रयोगों में जांचा और अंततः तर्क की कसौटी पर परखकर सिद्ध रूप में प्रस्तुत किया। जो समीक्षात्मक दृष्टिकोण इन तीनों क्षेत्रों में सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता, वह उनके लिए ग्राह्य नहीं था। उनका मानना था कि यह समन्वय केवल भारतीय रस-सिद्धांत में संभव है, और इस विश्वास में उन्होंने कभी परिवर्तन नहीं किया।

हिंदी आलोचना में हुए परिवर्तन को पहचानते हुए उन्होंने कहा था-''इस तृतीय उत्थान में समालोचना का आदर्श भी बदला है; गुण-दोष की पहचान से आगे बढ़कर अब कवियों की विशिष्टताओं और उनकी आंतरिक प्रवृत्तियों की खोज की जा रही है।'' आचार्य शुक्ल हिंदी के ऐसे एकमात्र आलोचक थे जिन्होंने परंपरागत आलोचना के प्रति आदरभाव रखते हुए अपने युग की जरूरतों को समझा और उसी अनुरूप आलोचना की एक विशिष्ट हिंदी शैली को विकसित किया। किसी आलोचक के साहित्यिक मूल्य उसकी पसंद-नापसंद से प्रतिबिंबित होते हैं। वह किस प्रकार के साहित्य को प्राथमिकता देता है, किन विशेषताओं को सराहता है और किन तत्वों की आलोचना करता है— इससे उसकी साहित्यिक दृष्टि और जीवन-दृष्टिकोण का पता चलता है।

शुक्ल जी के आलोचक व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता उनकी गहरी,

जागरूक और व्यापक दृष्टि रही है। उन्होंने अपने समय के लगभग सभी साहित्यिक विवादों को गंभीरता से लिया और उन पर ठोस विचार भी व्यक्त किए। चाहे वह 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता का प्रश्न हो या विद्यापति की श्रृंगारिकता और भक्ति संबंधी बहस-शुक्ल जी ने इन सभी विषयों पर विचार किया। वे जिस गंभीरता से प्राचीन और मध्यकालीन काव्य की व्याख्या करते थे, उसी सजगता से उन्होंने आधुनिक साहित्य और विचारधाराओं पर भी ध्यान दिया। छायावाद तथा छायावादी कवियों पर किया गया उनका मूल्यांकन इसका सशक्त प्रमाण है।

4.3 शुक्ल का सामान्य परिचय

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का जन्म सन् 1984, बस्ती जिले के अगोना गाँव में हुआ था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के पिता का नाम चंद्रबली शुक्ल और माता का नाम विभाषी था। उन्हें बचपन से ही पढ़ाई-लिखाई में गहरी रुचि थी। उन्होंने स्वाध्याय के माध्यम से हिंदी, अंग्रेज़ी, संस्कृत, बांग्ला, उर्दू और फारसी जैसी कई भाषाओं का अच्छा ज्ञान अर्जित कर लिया था। साहित्य के प्रति उनकी रुचि दिन-प्रतिदिन प्रगाढ़ होती गई और वे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अपने लेख प्रकाशित करने लगे। आनंद कादंबिनी जैसी पत्रिका में उनकी रचनाएँ छपने लगीं। वे जीवन के अंतिम क्षणों तक साहित्य सेवा में लगे रहे और अंततः सन् 1941 में हृदय गति रुक जाने के कारण उनका निधन हो गया। उन्होंने न केवल हिंदी साहित्य की आलोचना की, बल्कि इसके सैद्धांतिक ढांचे की भी नींव रखी। उनके विचारों और रचनाओं ने हिंदी साहित्य के विकास में अहम भूमिका निभाई।

शुक्ल जी ने अपने जीवन के अधिकांश समय हिंदी साहित्य की गहरी समझ और अध्ययन में बिताया। वे एक समर्पित साहित्यकार थे, जिन्होंने साहित्य की काव्यात्मकता, सामाजिक उद्देश्य और रचनात्मक प्रक्रिया पर गंभीर विचार किया। उनकी प्रमुख रचनाओं में '*हिंदी साहित्य का इतिहास*' (1929) सबसे प्रमुख मानी जाती है, जिसमें उन्होंने हिंदी साहित्य के विकास की प्रक्रिया का विस्तृत और गहन विश्लेषण किया। इस पुस्तक में उन्होंने हिंदी साहित्य के विभिन्न कालखंडों, प्रवृत्तियों, और प्रमुख साहित्यकारों का समालोचनात्मक विवेचन किया। इस ग्रंथ

ने हिंदी साहित्य की ऐतिहासिक और आलोचनात्मक दृष्टि को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त, उनके अन्य महत्वपूर्ण कार्यों में 'काव्यशास्त्र', 'काव्यालोक' और निबंध शामिल हैं।

4.4 शुक्ल की आलोचनात्मक दृष्टि

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी आलोचना के सर्वोपरि विद्वान माने जाते हैं। उन्होंने हिंदी साहित्य में एक नए आलोचनात्मक दृष्टिकोण की स्थापना की, जो तर्क, मनोवैज्ञानिक विवेचन और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर आधारित था। उनकी आलोचना का मूल उद्देश्य साहित्य को सामाजिक और मानवीय संवेदनाओं से जोड़कर उसका मूल्यांकन करना था। वे केवल सौंदर्यपरक या रसवादी दृष्टिकोण तक सीमित नहीं रहे, बल्कि साहित्य को जीवन से जोड़कर उसकी उपयोगिता को रेखांकित किया। आचार्य शुक्ल के आलोचनात्मक दृष्टिकोण में निम्नलिखित विशेषताएँ नजर आती हैं :

4.4.1 वस्तुनिष्ठता एवं तर्कशीलता

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचनात्मक दृष्टि में वस्तुनिष्ठता और तर्कशीलता का संतुलित समावेश देखने को मिलता है। उन्होंने साहित्य को केवल कला के रूप मे नहीं, बल्कि समाज और मनुष्य की चेतना को जाग्रत करने वाले माध्यम के रूप में माना। शुक्ल जी की आलोचना का मूल केंद्र मनुष्यता, लोक-मंगल और नैतिक मूल्यों पर आधारित था। उन्होंने आलोचना को सभ्यता-समीक्षा का उपकरण बनाया और साहित्य का मूल्यांकन गहन अध्ययन, ऐतिहासिक दृष्टिकोण तथा वैज्ञानिक पद्धति से किया। उनके अनुसार, आलोचना का उद्देश्य मनुष्य की संवेदना को जागृत करना और साहित्य को सामाजिक सरोकारों से जोड़ना होना चाहिए।

4.4.2 मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की मनोवैज्ञानिक आलोचना-दृष्टि का मूल आधार मानव मन की जटिलताओं और गहराइयों का सूक्ष्म विश्लेषण है। उन्होंने साहित्य को मानवीय भावनाओं, विचारों और अनुभवों से जोड़कर देखा तथा भावों की व्याख्या मन की मुक्तावस्था और भावयोग के संदर्भ में की। शुक्ल जी का

मानना था कि मनोविकारों को दबाना नहीं, बल्कि उनका परिष्कार करना चाहिए ताकि व्यक्ति और समाज दोनों की नैतिक मर्यादा बनी रहे। उन्होंने साहित्य को केवल सौंदर्य का साधन न मानकर, उसे सामाजिक और नैतिक चेतना का वाहक माना। उनके मनोवैज्ञानिक निबंध, विशेष रूप से 'चिंतामणि' संग्रह के लेख, जैसे 'उत्साह', 'करुणा', 'लज्जा', 'ईर्ष्या', 'भय' और 'क्रोध' आदि, इस दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से उजागर करते हैं। इन विश्लेषणों के माध्यम से उन्होंने यह सिद्ध किया कि साहित्य, मनुष्य के अंतर्मन को समझने और उसे संवेदनशील बनाने का सशक्त माध्यम हो सकता है।

4.4.3 सामाजिक एवं नैतिकता का पक्ष

शुक्ल जी साहित्य को समाज और व्यक्ति के नैतिक उत्थान का साधन मानते थे। उनका विचार था कि साहित्य केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं है, बल्कि समाज को प्रेरणा देने का कार्य भी करता है। वे उन साहित्यिक कृतियों को अधिक महत्व देते थे, जो समाज में नैतिक और सांस्कृतिक चेतना जागृत करें। उनके अनुसार, साहित्य का मुख्य उद्देश्य मानवता की सेवा करना है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचनात्मक दृष्टि सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों से अनुप्राणित थी, जिसका आधार उन्होंने सभ्यता के विश्लेषण में खोजा। वे साहित्य को केवल सौंदर्य के लिए नहीं, बल्कि लोककल्याण और मानवीय नैतिकता के वाहक के रूप में देखते थे। उन्होंने साहित्य में आत्मकेंद्रितता और अमूर्त विचारों का विरोध करते हुए, समाज के सामूहिक अनुभवों और यथार्थवादी संवेदनाओं को अधिक महत्व दिया। उनकी आलोचना तुलसीदास और रामचरितमानस जैसे कालजयी ग्रंथों पर केंद्रित थी, जिनके माध्यम से वे मानवीय जीवन के नैतिक और वास्तविक स्वरूप को उजागर करना चाहते थे।

4.4.4. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

शुक्ल जी किसी भी कृति की आलोचना करते समय उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को भी ध्यान में रखते थे। उन्होंने हिंदी साहित्य का वर्गीकरण ऐतिहासिक क्रम में किया और हर युग की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए कवियों एवं उनकी कृतियों का मूल्यांकन किया। उन्होंने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' ग्रंथ में इसी दृष्टिकोण का पालन किया है। उनकी ऐतिहासिक आलोचना-दृष्टि भारतीय सांस्कृतिक परंपरा और साहित्यिक धरोहर की गहराई में निहित थी। उन्होंने कृतियों

का मूल्यांकन लोकधर्म, मानवतावाद और सभ्यता के व्यापक संदर्भों में किया। उनके अनुसार साहित्य समाज से पृथक नहीं, बल्कि उसका अभिन्न अंग है, जो सामाजिक जटिलताओं का समाधान प्रस्तुत करता है और नवीन सृजन की दिशा भी निर्धारित करता है।

4.4.5 आलोचनात्मक दृष्टिकोण की सीमाएँ

जहाँ शुक्ल जी की आलोचना हिंदी साहित्य को एक नई दिशा देने में सफल रही, वहीं उनकी आलोचना पर कुछ प्रश्न भी उठे हैं। उनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण की निम्नलिखित सीमाएँ मानी जाती हैं :

4.4.6 व्यक्तिगत आग्रह और पूर्वाग्रह

शुक्ल जी ने कई रचनाकारों की आलोचना करते समय अपने व्यक्तिगत आग्रहों को महत्व दिया। उदाहरण के लिए, उन्होंने भक्तिकाल के कवियों में तुलसीदास को सर्वश्रेष्ठ माना, जबकि सूरदास और कबीर की काव्य विशेषताओं पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया। इसी प्रकार उन्होंने रीतिकालीन काव्य को कता के आधार पर नकारात्मक दृष्टि से देखा, जबकि उसमें भी अनेक श्रेष्ठ य गुण विद्यमान थे।

अपनी प्रगति जाँचें

प्रश्न संख्या 1. आचार्य शुक्ल के अलावा 'हिंदी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ किसने लिखा?

प्रश्न संख्या 2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भक्तिकालीन कवियों में से किसको श्रेष्ठ माना है?

प्रश्न संख्या 3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल के मनोवैज्ञानिक दृष्टि पर आधारित दो निबंधों का नाम लिखिए।

प्रश्न संख्या 4. आचार्य शुक्ल द्वारा रचित 'हिंदी साहित्य का इतिहास' का प्रकाशन कब हुआ था?

4.4.7 कल्पनाशीलता की उपेक्षा

आचार्य शुक्ल साहित्य में यथार्थ और नैतिकता को अधिक महत्व देते थे, लेकिन वे कल्पनाशीलता और कलात्मक सौंदर्य को कम महत्व देते थे।

वे काव्य में भावुकता और व्यक्तिगत अनुभूति की अपेक्षा तर्कशीलता और नैतिकता को प्राथमिकता देते थे, जिससे उनकी आलोचना कुछ हद तक कठोर और संकीर्ण प्रतीत होती है।

4.4.8 रसवादी दृष्टिकोण का विरोध

उन्होंने रस सिद्धांत की आलोचना करते हुए कहा कि यह केवल कवि की व्यक्तिगत भावनाओं पर केंद्रित होता है और इसमें समाज व नैतिकता की उपेक्षा की जाती है। उनके इस मत को कई विद्वानों ने अस्वीकार किया, क्योंकि रस सिद्धांत साहित्यिक सौंदर्य की एक महत्वपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करता है।

4.4.9 आधुनिकता की ओर झुकाव का अभाव

शुक्ल जी ने हिंदी साहित्य में समकालीन प्रवृत्तियों और पश्चिमी साहित्यिक सिद्धांतों को बहुत अधिक स्थान नहीं दिया। वे भारतीय परंपराओं और नैतिकता को अत्यधिक महत्व देते थे, जिससे उनकी आलोचना में आधुनिकता और प्रयोगशीलता की कमी दिखाई देती है।

रामचंद्र शुक्ल ने आधुनिक हिंदी साहित्य के विकास में पारंपरिक साहित्यिक रूपों और विचारों को आदर्श माना, लेकिन उन्होंने समकालीन परिस्थितियों के अनुसार साहित्य को नया रूप देने की आवश्यकता पर भी जोर दिया। उनका मानना था कि साहित्य को समाज के अनुरूप विकसित किया जाना चाहिए।

4.4.10 काव्यशास्त्र और सौन्दर्य बोध

आचार्य रामचंद्र शुक्ल काव्यशास्त्र के मानकों और नियमों के प्रति सख्त थे। उन्होंने साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन केवल भावनात्मक या व्यक्तिगत आधार पर नहीं, बल्कि काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से किया। उन्होंने साहित्य की गहरी बुनावट और उसकी संरचना पर विशेष ध्यान दिया, जिससे उनकी आलोचना में तार्किकता और गहराई आई।

शुक्ल जी ने काव्य में रस, अलंकार, और छंद की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार किया, लेकिन वे इन तत्वों को मात्र बाहरी सौंदर्य के रूप में नहीं, बल्कि साहित्य की आत्मा के रूप में देखते थे। उनके अनुसार, साहित्य तभी सार्थक होता है जब वह जीवन की सच्चाइयों और मानवीय संवेदनाओं को

अभिव्यक्त करे। वे रस को केवल आनंद का साधन न मानकर उसे पाठक की मनोवृत्ति से जोड़कर देखते थे। इसी प्रकार, उन्होंने अलंकारों को महत्त्व दिया, लेकिन केवल शाब्दिक सौंदर्य के लिए नहीं, बल्कि काव्य के भाव को उन्नत करने के लिए।

छंदशास्त्र के प्रति भी उनकी स्पष्ट दृष्टि थी। वे मानते थे कि छंद, काव्य को एक लयबद्धता और प्रभावशाली स्वरूप प्रदान करता है, जिससे उसकी प्रभावशीलता बढ़ती है। हालांकि, उन्होंने छंद या अलंकार को मात्र शृंगारिकता तक सीमित नहीं किया, बल्कि उन्हें काव्य की आंतरिक शक्ति के रूप में देखा।

शुक्ल जी की सौंदर्यबोध दृष्टि एक संतुलित आलोचना प्रस्तुत करती है, जिसमें काव्यशास्त्र के नियमों का सम्मान करते हुए भी साहित्य को एक जीवंत और प्रभावी रूप देने पर जोर दिया गया है। उनके विचारों ने हिंदी आलोचना को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया और साहित्यिक सौंदर्य को अधिक गहराई से समझने का मार्ग प्रशस्त किया।

4.5 शुक्ल की आलोचना का महत्व

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी आलोचना के प्रथम सैद्धांतिक आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने हिंदी साहित्य में आलोचना को एक वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण प्रदान किया। उनकी आलोचना केवल व्यक्तिगत रुचि या साहित्यिक सौंदर्य तक सीमित नहीं थी, बल्कि उसमें ऐतिहासिकता, मनोविज्ञान, सामाजिकता और नैतिकता का समन्वय देखा जाता है।

शुक्ल जी ने हिंदी साहित्य में आलोचना को एक स्वतंत्र विधा के रूप में स्थापित किया। उनकी आलोचना से पहले हिंदी में आलोचना का स्वरूप अधिकतर भावात्मक था, लेकिन उन्होंने उसे तार्किकता और वस्तुनिष्ठता से जोड़ा। उन्होंने काव्य की विवेचना केवल सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से न करके, उसकी सामाजिक और नैतिक भूमिका को भी महत्व दिया।

शुक्ल जी ने साहित्य का अध्ययन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया और यह बताया कि हर युग की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ उस समय की सामाजिक परिस्थितियों और मानवीय चेतना से प्रभावित होती हैं। इसके साथ ही, उन्होंने कवियों और लेखकों की मनोवृत्ति को समझने का प्रयास किया और उनकी कृतियों को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी परखा।

शुक्ल जी साहित्य को समाज का दर्पण मानते थे और वे इसे केवल मनोरंजन का साधन न मानकर समाज के नैतिक उत्थान का माध्यम मानते थे। उनकी आलोचना ने यह स्थापित किया कि साहित्य का मूल्यांकन केवल उसकी कलात्मक श्रेष्ठता से नहीं, बल्कि उसके सामाजिक प्रभाव से भी किया जाना चाहिए।

शुक्ल जी ने रस, अलंकार और छंद को साहित्य का अनिवार्य अंग माना, लेकिन वे इसे मात्र सजावट के रूप में नहीं देखते थे। उनके अनुसार, ये तत्व तभी सार्थक होते हैं जब वे साहित्यिक कृति की प्रभावशीलता को बढ़ाते हैं। उन्होंने रसवाद की सीमाओं को इंगित किया और इसे पाठक के अनुभव से जोड़कर देखा।

उनकी आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता उनकी निष्पक्षता और तर्कबुद्धि थी। वे किसी भी साहित्यिक कृति को केवल व्यक्तिगत पसंद-नापसंद के आधार पर नहीं, बल्कि तर्कसंगत ढंग से परखते थे। उनकी यह विशेषता हिंदी आलोचना को एक ठोस आधार देने में सहायक बनी।



अपनी प्रगति जाँचें

पश्न संख्या 6 : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काव्यशास्त्र पर क्या दृष्टिकोण था?

प्रश्न संख्या 7 : आचार्य शुक्ल के प्रमुख काव्यशास्त्र सिद्धांत क्या थे?

प्रश्न संख्या 8 : आचार्य शुक्ल की कल्पनाशीलता के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण किस प्रकार की है?

पश्न संख्या 9 : आचार्य शुक्ल की आलोचना की सबसे प्रमुख विशेषता क्या है?

पश्न संख्या 10 : हिंदी आलोचना का प्रथम सैद्धांतिक आलोचक का नाम क्या है?



4.6 सारांश

हिंदी साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन में शुक्ल का योगदान अविस्मरणीय है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य में रस, अलंकार, और छंद की महत्वपूर्णता पर भी जोर दिया और साहित्यिक कृतियों की संरचना और गहरी समझ पर बल दिया। उनके अनुसार, साहित्य की आलोचना में तार्किकता

और गहरी विवेचना आवश्यक है।

उनकी विद्वता, आलोचनाएँ, काव्यशास्त्र, और साहित्यिक सिद्धांत ने हिंदी साहित्य को एक नई दिशा दी है। आज भी हिंदी साहित्य के अध्ययन और आलोचना के लिए यह एक सशक्तता प्रदान कर सभी को मार्गदर्शन कराती हैं।



महत्वपूर्ण बिंदु

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना ने हिंदी साहित्य को एक नई दिशा दी। उन्होंने आलोचना को एक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया और साहित्य को समाज और मनुष्य के जीवन से जोड़कर देखा। उनकी आलोचना पद्ध ति ने हिंदी साहित्य में आलोचनात्मक चिंतन को एक सुदृढ़ आधार दिया जिससे आगे के आलोचकों को मार्गदर्शन मिला। इस दृष्टि से उनकी आलोचना हिंदी साहित्य के इतिहास में एक मील का पत्थर मानी जाती है।

4.7 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

पश्न संख्या 1. का उत्तर : डॉ. नगेन्द्र।

प्रश्न संख्या 2. का उत्तर : तुलसी दास को।

प्रश्न संख्या 3. का उत्तर : तुलसी दास।

प्रश्न संख्य 3. का उत्तर : तुलसीदास।

प्रश्न संख्या 4. का उत्तर : उत्साह और लज्जा।

प्रश्न संख्या 5. का उत्तर : 1929

प्रश्न संख्या 6. का उत्तर : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काव्यशास्त्र पर क्या दृष्टिकोण था? उत्तर: आचार्य शुक्ल का मानना था कि साहित्य का उद्देश्य केवल सौंदर्य नहीं बल्कि समाज को जागरूक करना और उसे सुधारना भी है। उन्होंने काव्य के गुण और दोषों पर गहन विचार किया और शास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाया।

प्रश्न संख्या 7. का उत्तर : आचार्य शुक्ल के सिद्धांत साहित्य की शास्त्रीयता, काव्यगुण और समाज से जुड़ाव पर आधारित थे। उन्होंने साहित्य को समाज का दर्पण और समाज सुधारक के रूप में देखा।

प्रश्न संख्या 8. का उत्तर के लिए इकाई ध्यान से पढ़िए।

प्रश्न संख्या 9. का उत्तर : आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता उनकी निष्पक्षता और तर्कबुद्धि है।

प्रश्न संख्या 10. का उत्तर : आचार्य रामचंद्र शुक्ल।



4.8 अधिक जानने के लिए पढ़े

- शुक्ल, आचार्य रामचंद्र. (1957). हिंदी साहित्य का इतिहास. दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
- शुक्ल, आचार्य रामचंद्र. (1965). आलोचना की पद्धति. दिल्ली: साहित्य अकादमी।
- शुक्ल, आचार्य रामचंद्र. (1967). कविता का सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ. दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ।
- नवल, नंदकिशोर. (2023). हिंदी आलोचना का विकास. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
- शुक्ल, आचार्य रामचंद्र. (1939). चिंतामणि (भाग-1). इलाहाबाद: लोक भारती प्रकाशन।
- सिंह, नामवर. (1954). आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ. इलाहाबाद: किताब महल।
- सिंह, गोपेश्वर. (2011). आलोचना का नया पाठ. दिल्ली : किताब घर प्रकाशन।
- शर्मा, रामविलास. (1973). आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
- झारी, कृष्णदेव. (1968). आचार्य रामचंद्र शुक्ल निबंध यात्रा. दिल्ली: वाणी प्रकाशन।
- मिश्र, शिवकुमार. (1986). हिंदी आलोचना की परंपरा और आचार्य रामचंद्र शुक्ल. दिल्ली: वाणी प्रकाशन।

4.9 अभ्यास प्रश्न

क) संक्षिप्त प्रश्नों के उत्तर लिखिए

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना पद्धति को 'सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक' क्यों कहा जाता है?

2. शुक्ल जी की आलोचना में 'लोकमंगल' की अवधारणा का क्या महत्त्व है?
3. शुक्ल जी की आलोचना पद्धति में रचना के सामाजिक संदर्भों की क्या भूमिका होती है?
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल का जन्म कब और कहाँ हुआ था?
5. 'चिंतामणि' निबंध संग्रह के लेखक कौन है?
6. आचार्य शुक्ल ने किन रचनाओं में आलोचना के व्यावहारिक और सैद्धांतिक दोनों पक्ष को समाहित किया है?

ख) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखिए

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना दृष्टि के प्रमुख तत्वों की विवेचना कीजिए।
2. आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि ने हिंदी साहित्य में किस प्रकार की नवीनता का सूत्रपात किया है-अपने शब्दों में स्पष्ट कीजिए।
3. शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि में 'लोकमंगल', 'इतिहास-बोध' एवं 'वस्तुनिष्ठता' को किस प्रकार समाहित किया गया है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
4. आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि को समकालीन आलोचना दृष्टि से किस प्रकार भिन्न माना जाता है-एक आलेख प्रस्तुत कीजिए।
5. आचार्य शुक्ल की आलोचनात्मक दृष्टियों की सीमाओं पर प्रकाश डालते हुए एक आलेख प्रस्तुत कीजिए।
6. आचर्य शुक्ल के आलोचनात्मक दृष्टिकोण के किन्ही पाँच विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

******

इकाई 5 : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचनात्मक दृष्टि

इकाई की रूपरेखा

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रस्तावना

5.3 द्विवेदी जी का सामान्य परिचय

5.4 द्विवेदी जी आलोचनात्मक दृष्टि

5.5 शुक्ल जी और द्विवेदी जी की आलोचना-दृष्टि में साम्य-वैषाम्य

5.6 सारांश

5.7 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

5.8 अधिक जानने के लिए पढ़े

5.9 अभ्यास प्रश्न

5.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप

- आचार्य द्विवेदी जी के जीवन और साहित्य के बारे में गहन जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।
- हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के आलोचनात्मक दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष रूप से परिचित होंगे।
- उनके आलोचना कार्य के महत्व को समझने में समर्थ होंगे।
- उनकी आलोचना के सूक्ष्म से सूक्ष्म बिंदुओं से अवगत रहेंगे।
- द्विवेदी जी की कृतियों में निहित आलोचनात्मक दृष्टियों का ज्ञान अर्जित कर सकते हैं।

5.2 प्रस्तावना

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भारतीय साहित्य के प्रखर चिंतक, लेखक और इतिहासविद् थे, जिन्होंने हिंदी साहित्य को न केवल समृद्ध किया, बल्कि उसकी समीक्षा एवं विश्लेषण की दृष्टि को भी नवीन आयाम प्रदान किए। उनकी आलोचनात्मक दृष्टि में न केवल साहित्य के भाव और शब्दों की गहराई को समझने का प्रयत्न दिखाई देता है, बल्कि समाज, संस्कृति और इतिहास की

सूक्ष्म छवियों को भी समेटने का अद्भुत सामर्थ्य निहित है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एक बहुआयामी प्रतिभा के रूप में प्रतिष्ठित हैं। द्विवेदी जी की आलोचना-दृष्टि का मूल तत्व था- इतिहासबोध, संस्कृति चेतना और भावबोध की गहराई। उन्होंने साहित्य को केवल रस, भाव और शैली की दृष्टि से नहीं देखा, बल्कि उसे समाज, संस्कृति, दर्शन और मानवीय चेतना से जोड़कर उसकी व्याख्या की। कबीर, नाथ संप्रदाय, हिंदी साहित्य की भूमिका, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद जैसे उनके आलोचनात्मक ग्रंथ इस बात का प्रमाण हैं कि वे परंपरा को केवल स्थूल रूप में नहीं, बल्कि उसके जीवंत एवं परिवर्तनशील स्वरूप में देखते थे।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्य में एक अलग और महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने साहित्य की रचना और समीक्षा, दोनों क्षेत्रों में अपनी कलम चलाकर योगदान दिया है। अपने मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण उन्होंने इतिहास, आलोचना, उपन्यास और निबंध जैसी विधाओं को समृद्ध किया। हिन्दी आलोचना में वे शुक्लजी के बाद पहले ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने आलोचना साहित्य को गहराई से प्रभावित किया। डॉ. नामवर सिंह उन्हें दूसरी परंपरा के खोजकर्ता के रूप में देखते हैं। परंपरा एक गतिशील प्रक्रिया है, इसलिए इस पर चर्चा करने के बजाय यह कहना उचित होगा कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भारतीय परंपरा के वाहक हैं, जो मूल रूप से मानवतावादी है। उनके विचार इसके प्रमाण हैं। उनका व्यक्तित्व अद्वितीय था। जीवन भर उन्होंने अपने विरोधियों से संघर्ष किया, लेकिन साहित्य के क्षेत्र में वे हमेशा समर्पित मानवता के समर्थक रहे, और मानवीय ईर्ष्या या द्वेष से पूर्णत: दूर रहे।

उनकी आलोचना शैली न तो केवल तथ्यों पर आधारित थी और न ही केवल कल्पना-प्रवण-बल्कि यह तर्क, भावना और ऐतिहासिक संदर्भों का समन्वय थी। वे आलोचना को एक संवाद मानते थे- एक ऐसा संवाद जो लेखक, पाठक, युग और संस्कृति के बीच सेतु का कार्य करे। उनकी लेखनी में तुलनात्मक दृष्टि, मौलिकता और भाषिक सौंदर्य तीनों का अद्भुत समन्वय मिलता है।

उन्होंने हिंदी साहित्य को केवल एक भाषा का साहित्य नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति की अनुगूंज के रूप में देखा। सूर साहित्य और हिंदी साहित्य का आदिकाल जैसे ग्रंथों में उन्होंने भक्ति आंदोलन और भारतीय धर्मदर्शन की गहराइयों को उजागर करते हुए यह सिद्ध किया कि साहित्य को समझने के लिए

केवल भावप्रवण हृदय नहीं, बल्कि इतिहास-संपृक्त दृष्टि की आवश्यकता होती है।

अत: आचार्य द्विवेदी न केवल एक महान साहित्यकार थे, बल्कि एक युगद्रष्टा आलोचक भी थे, जिन्होंने हिंदी साहित्य को एक समग्र, बहुआयामी दृष्टिकोण प्रदान किया। उनका कार्य आज भी साहित्य-प्रेमियों, शोधार्थियों और आलोचकों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है।

5.3 द्विवेदी जी का सामान्य परिचय

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कृतित्व वैविध्यपूर्ण है। उन्होंने विविध विषयों पर विविध विधाओं में लिखा है। निबंध, उपन्यास, आलोचना, इतिहास आदि उनके लेखन के प्रधान क्षेत्र हैं। उन्होंने विविध विषयों पर निबंध लिखे हैं। ललित निबंध का तो प्रणेता ही उन्हें कहा जाता है। आलोचना आचार्य द्विवेदी की साहित्यिक यात्रा का एक महत्वपूर्ण अंग रही है। उन्होंने आलोचना के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों ही पक्षों को समृद्ध किया है और इस क्षेत्र को अनेक मूल्यवान योगदान प्रदान किए हैं। उनकी आलोचनात्मक कृतियों को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लिखी गई रचनाओं और शुद्ध साहित्यिक आलोचनाओं के रूप में दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, उनके आलोचनात्मक विचार उनके निबंधों में भी परिलक्षित होते हैं। इसलिए, यदि द्विवेदी जी की आलोचना यात्रा का समग्र मूल्यांकन करना हो, तो उनकी समस्त रचनाओं का समावेश आवश्यक है। उनकी विचारधारा ऐतिहासिक चेतना से युक्त और मानवतावादी दृष्टिकोण से प्रेरित रही है, जो उनके सम्पूर्ण साहित्य में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। उनके इतिहास विषयक ग्रंथ केवल ऐतिहासिक तथ्यों का संकलन मात्र नहीं हैं, बल्कि उनमें निहित विचार और भाव नवीन विश्लेषण और विवेचन की माँग करते हैं तथा विचार-विमर्श के लिए नए आधार प्रस्तुत करते हैं।

आलोचनात्मक ग्रंथ: सूर साहित्य, हिंदी साहित्य की भूमिका, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, कबीर, नाथ संप्रदाय, हिंदी साहित्य का आदिकाल, आधुनिक हिंदी साहित्य पर विचार, साहित्य का मर्म, साहित्य सहचर, कालिदास की लालित्य योजना, हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास, मृत्युंजय रवींद्र, सहज साधना, हिंदी साहित्य आदि।

निबंध संग्रह: अशोक के फूल (1948), कल्पलता (1951), मध्यकालीन

धर्मसाधना (1952), विचार और वितर्क (1957), विचार-प्रवाह (1959), कुटज (1964), आलोक पर्व (1972)।

कुछ प्रमुख निबंध: कल्पतरु, गतिशील चिंतन, नाखून क्यों बढ़ते हैं, अशोक के फूल, देवदारू, बसंत आ गया, वर्षाम्घनपति से घनश्याम तक, घर जोड़ने की माया आदि।

उपन्यास: बाणभट्ट की आत्मकथा(1946), चारु चंद्रलेख (1963), पुनर्नवा (1973), अनामदास का पोथा (1976)।

अगस्त 1981 ई. में उनकी समस्त उपलब्ध रचनाओं का संकलनहजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली के नाम से 11 खंडों में प्रकाशित हुआ। यह प्रथम संस्करण दो वर्ष से भी कम समय में समाप्त हो गया। द्वितीय संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण 1998 ई॰ में प्रकाशित हुआ।

आचार्य द्विवेदी ने हिंदी भाषा के ऐतिहासिक व्याकरण के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने हिंदी भाषा का वृहत् ऐतिहासिक व्याकरणनामक चार खंडों में एक विशाल व्याकरण ग्रंथ की रचना की थी। इसकी पांडुलिपि बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग को सौंपी गई थी। उनके पुत्र मुकुंद द्विवेदी ने इस ग्रंथ के प्रथम खंड की प्रति से सन् 2011 में इसका प्रकाशन किया। इस ग्रंथ को 'हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली' के बारहवें खंड के रूप में भी सम्मिलित किया गया। इस प्रकार अब यह ग्रंथावली 12 खंडों में प्रकाशित हो रही है।

द्विवेदी के प्रमुख रचनाओं की संक्षिप्त परिचय :

'सूर साहित्य' द्विवेदी जी की प्रमुख रचना है। इस ग्रंथ में द्विवेदी जी ने अपने आराध्य भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति परंपरा तथा भक्त कवि सूरदास की भक्ति भावना का विश्लेषण विभिन्न अध्यायों के माध्यम से किया है। पूरी कृति में भक्ति के मूल तत्व 'प्रेम' को ही 'प्रेमापुमर्थो महान्' कहकर विस्तार से समझाया गया है। इस पुस्तक की भूमिका आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखी है। भूमिका में उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने भक्ति तत्व, प्रेम सिद्धांत तथा राधा-कृष्ण मतवाद से संबंधित जो भी महत्वपूर्ण सामग्री उन्हें उपलब्ध हो सकी, उसे इस ग्रंथ में संकलित कर गहराई से विचार किया है। उन्होंने अपने विचारों को सरल और स्पष्ट भाषा में प्रस्तुत किया है। इसी कारण यह पुस्तक साधारणतया आराम से पढ़ने योग्य नहीं रह गई है, बल्कि इसे पढ़ते समय हर पंक्ति पर मनन और विचार की आवश्यकता पड़ती है।

'साहित्य-सहचर' ग्रंथ में द्विवेदी जी के साहित्य, साहित्यकार, राष्ट्रीय साहित्य, नवीन दृष्टिकोण, साहित्य के विकासमार्ग, रस आदि विषयों पर विचार समाहित हैं, साथ ही साहित्य की प्रमुख विधाओं से संबंधित उनके विचार भी संकलित किए गए हैं। यह पुस्तक विशेष रूप से सामान्य विद्यार्थियों को ध्यान में रखते हुए रची गई है, अत: इसकी भाषा-शैली अत्यंत सहज और सरल है। इसकी संरचना को देखते हुए इसे हिन्दी साहित्य का एक संक्षिप्त इतिहास कहा जा सकता है। इस कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें साहित्य के अंगों के साथ-साथ विभिन्न साहित्यिक रूपों की गहराई से विवेचना की गई है। पहले अध्याय में 'साहित्य' शब्द की व्यापकता को स्पष्ट करते हुए इसकी विभिन्न श्रेणियाँ निर्धारित की गई हैं तथा साहित्य और जीवन के पारस्परिक संबंध को उजागर किया गया है। द्विवेदी जी ने इस पुस्तक में साहित्य की विविध विधाओं पर गंभीर चिंतन प्रस्तुत किया है और इन विधाओं को लेकर जो सामान्य भ्रांतियाँ प्रचलित हैं, उनका समाधान भी किया है। उदाहरण स्वरूप, उपन्यास और कहानी जैसी विधाओं पर उनका दृष्टिकोण देखा जा सकता है।

'कबीर' ग्रन्थ में कबीर को समझने का ठोस, तार्किक और व्यावहारिक कारण प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ में कबीर का समग्र और निष्पक्ष मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने पूरी निष्ठा और वस्तुनिष्ठता के साथ कबीर के व्यक्तित्व, उनके साहित्यिक योगदान तथा दार्शनिक दृष्टिकोण का विस्तार से विश्लेषण किया है। आचार्य द्विवेदी की इस रचना ने न केवल कबीर की विचारधारा को एक नई दिशा दी, बल्कि हिन्दी की भक्तिकालीन परंपरा और उसके प्रारंभ की समझ को भी सुदृढ़ आधार प्रदान किया।

द्विवेदीजी की शोधपूर्ण दृष्टि से जो सबसे महत्वपूर्ण तथ्य उभरकर सामने आया, वह कबीर की भक्ति भावना है। उन्होंने ठोस प्रमाणों के साथ यह स्थापित किया कि जिस भक्ति मार्ग को योगियों और अन्य साधकों के आडंबर ने बाधित कर दिया था, उसे कबीर ने पुन: जीवित कर जनमानस तक पहुँचाया। लगभग पंद्रह अध्यायों में विभाजित इस कृति में कबीर का जैसा पूर्ण और विस्तृत वर्णन किया गया है, वैसा विश्लेषण अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलता है। यह पुस्तक आचार्य द्विवेदी की प्रमुख आलोचनात्मक रचनाओं में से एक मानी जाती है। इसमें कबीर के जन्म, वंश, जाति से लेकर उनकी धार्मिक साधना, भक्ति भाव और आदर्शों का गहन दार्शनिक विवेचन किया गया है। 'कबीर कौन थे?' और 'उनकी जाति क्या थी?' जैसे प्रश्नों पर चर्चा करते हुए द्विवेदीजी ने ठोस प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि कबीर उस जुलाहा जाति में जन्मे

थे, जो मूलत: हिंदू समाज का हिस्सा थी और बाद में जुलाहा वर्ग में सम्मिलित हो गई थी। उनका उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि कबीर न तो केवल हिंदू थे, न ही मुसलमान। आचार्य द्विवेदी 'बीजक' को कबीर की प्रमाणिक वाणी का संग्रह मानते हैं।

'हिंदी साहित्य का आदिकाल' ग्रन्थ में प्रथम अध्याय में प्रारम्भ से लेकर वर्तमान तक उन सभी ग्रंथों का विवरण प्रस्तुत किया गया है, जिनमें आदिकाल पर चर्चा की गई है। इन्हीं स्रोतों के आधार पर द्विवेदीजी ने अपभ्रंश भाषा और साहित्य का गहन विश्लेषण किया है। द्वितीय अध्याय में आदिकाल से संबंधित समस्त उपलब्ध सामग्री का सूक्ष्म परीक्षण किया गया है। विभिन्न स्रोतों से परिश्रमपूर्वक संकलित सामग्री को अपने व्याख्यान का आधार बनाकर द्विवेदीजी ने अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय देते हुए आदिकाल पर ठोस निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। साथ ही, अध्याय के अंत में भाषाओं पर भी विमर्श किया गया है।

इसके साथ ही उनकी कृति 'अशोक के फूल','विचार-वितर्क','विचार-प्रवाह','हमारी साहित्यिक समस्याएं','कल्पलता','साहित्य का मर्म','भाषा, साहित्य और देश','हिंदी साहित्य-उद्भव और विकास','हिंदी साहित्य की भूमिका' आदि ग्रन्थ हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है।

किसी भी रचनाकार के व्यक्तित्व के निर्माण में उसका वंश और जन्मस्थान महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। केवल व्यक्ति से उसकी जन्मभूमि की पहचान नहीं होती, बल्कि जन्मभूमि से भी व्यक्ति की पहचान होती है। आचार्य द्विवेदी को उस भारत की मिट्टी में जन्म लेने का सौभाग्य मिला, जिसने साहित्य और संस्कृति के अनेक प्रतिभाशाली संरक्षकों को जन्म दिया। काशी (वाराणसी) का पौराणिक महत्त्व भी अत्यंत प्रसिद्ध है। यह वह भूमि है जहाँ कई महान साहित्यिक और सांस्कृतिक व्यक्तित्वों ने जन्म लिया और कार्य किया। आचार्य द्विवेदी को काशी की इस उर्वर भूमि ने पाला और तैयार किया, जिससे वे साहित्य को एक नई दिशा प्रदान कर सके।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म 19 अगस्त, सन् 1907 ई. को उत्तर प्रदेश के बलिया ज़िले के ओझवलिया नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम पंडित अनमोल द्विवेदी और माता का नाम श्रीमती ज्योतिष्मती था। इनका परिवार ज्योतिष विद्या के लिए प्रसिद्ध था। पंडित अनमोल द्विवेदी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। बचपन में द्विवेदी जी को, 'वैद्यनाथ द्विवेदी' कहकर पुकारा जाता था।

उनकी की प्रारंभिक शिक्षा गाँव के ही विद्यालय में हुई। सन् 1927 में

उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की और उसी वर्ष उनका विवाह भगवती देवी से सम्पन्न हुआ। सन् 1929 में उन्होंने इंटरमीडिएट की परीक्षा तथा संस्कृत साहित्य में शास्त्री की उपाधि प्राप्त की। सन् 1930 में ज्योतिष विषय में उन्होंने 'आचार्य' की उपाधि प्राप्त की। इसी वर्ष 8 नवम्बर को द्विवेदी जी ने शांति निकेतन में हिंदी का अध्यापन कार्य आरंभ किया। वहाँ गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन के सान्निध्य में उन्होंने साहित्य का गहन अध्ययन किया और साथ ही अपना स्वतंत्र लेखन भी व्यवस्थित रूप से आरंभ किया।

सन् 1949 में लखनऊ विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट् की मानद उपाधि प्रदान की। संस्कृत, हिंदी, अंग्रेज़ी और बांग्ला भाषाओं के ज्ञाता द्विवेदी जी को सन् 1957 में भारत सरकार द्वारा 'पद्मभूषण' की उपाधि से सम्मानित किया गया। इसके अतिरिक्त, सन् 1973 में प्रकाशित उनके निबंध संग्रह आलोक पर्व के लिए उन्हें 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' भी प्राप्त हुआ था। सन् 1979 में 19 मई के दिन इस महान मनीषी का निधन हो गया।

5.4 द्विवेदी जी आलोचनात्मक दृष्टि

हिंदी आलोचना के इतिहास में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का स्थान एकमूल्यनिर्धारक युग पुरुषके रूप में है। वे हिंदी के पहले वैज्ञानिक, तर्कशील और ऐतिहासिक आलोचक माने जाते हैं। उन्होंने साहित्य की आलोचना को केवल भावुकता या रूचि तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे एक विधिवत अध्ययन और मूल्यांकन की प्रक्रिया के रूप में प्रतिष्ठा दी। उनकी आलोचना–दृष्टि को निम्नवत रूपों में विचार किया जा सकता है–

1. ऐतिहासिक दृष्टिकोण :

शुक्ल जी का मानना था कि साहित्य को उसकेयुग और सामाजिक संदर्भोंके आधार पर समझा जाना चाहिए। उन्होंनेहिंदी साहित्य का इतिहास(1906)में साहित्य को कालक्रमानुसार व्यवस्थित कर यह स्पष्ट किया कि हर युग की काव्यधारा समाज की चिंतनधारा से जुड़ी होती है। उनका दृष्टिकोण यह था कि कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति अचानक पैदा नहीं होती, वह अपने युग की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से जन्म लेती है।

उदाहरण

भक्तिकाल के कवियों की रचनाओं को उन्होंने तत्कालीन सामाजिक संघर्षों और धर्म-संप्रदायों की पृष्ठभूमि में रखा।

2. समाजोन्मुखता और लोकमंगल की भावना

शुक्ल जी के आलोचना चिंतन का सबसे प्रमुख तत्व लोकमंगल की भावनाथी। उनका मानना था कि साहित्य वही सच्चा साहित्य है जो समाज के हित और जन-जीवन के उत्थान में सहायक हो। उन्होंने कहा था-

''साहित्यकार का कार्य केवल मनोरंजन करना नहीं है, बल्कि समाज केवास्तविक दुख-सुख का चित्रणऔरआदर्श निर्माणकरना है।''

उनकी दृष्टि में साहित्य केवल व्यक्तिगत भावनाओं का नहीं, बल्किसामूहिक चेतनाका वहन करता है।

3. यथार्थवाद और वैज्ञानिकता

शुक्ल जी ने साहित्य की विवेचना को भावुकता और व्यक्तिगत पूर्वग्रह से हटाकर तथ्यात्मक एवं तर्कपूर्ण बनाया। वे साहित्य की आलोचना को एक विज्ञानकी तरह देखते थे जिसमें विश्लेषण, तुलनात्मक अध्ययन और प्रमाण की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में तर्क और उदाहरणों का भरपूर प्रयोग किया।

उदाहरण

कबीर और तुलसी दास पर लिखते हुए उन्होंने उनके काव्य की सामाजिक उपयोगिता, शैलीगत विशेषता और भाषा के स्तर का तर्कसंगत मूल्यांकन किया।

4. सौंदर्यबोध और भावुकता का संतुलन

हालाँकि शुक्ल जी यथार्थवादी आलोचक थे, परंतु उन्होंने साहित्य में सौंदर्य, कल्पना और मानवीय भावनाओंको भी उचित स्थान दिया। उन्होंने भावों को मानव जीवन केप्रेरक तत्वके रूप में देखा। उनके अनुसार, साहित्य में रस, छंद और अलंकार तभी सार्थक हैं जब वे भाव प्रवणता और यथार्थ चित्रणके साथ हों।

5. नीतिपरकता और आदर्शवाद

शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि में नैतिकता का विशेष स्थान था। वे साहित्य को नीति और दर्शनके निकट पाते थे। उनके अनुसार, साहित्य को समाज में अच्छे मूल्यों, आदर्शों और चरित्र निर्माण का माध्यम बनना चाहिए।

6. मौलिकता और स्वतंत्र दृष्टिकोण

शुक्ल जी ने पाश्चात्य आलोचना सिद्धांतों की अंधानुकरण नहीं किया। उन्होंने

तुलनात्मक अध्ययन करते हुए भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप आलोचना के मापदंडों का निर्माण किया। उन्होंने हिंदी में मौलिक आलोचना परंपराकी नींव रखी, जिससे आगे चलकर नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह आदि ने विचार की विविध धाराएँ विकसित कीं।

प्राचीन ग्रीक विचारक लोंजाइनस ने काव्य के औदात्य (महानता) की चर्चा करते हुए लिखा है कि किसी साहित्यिक रचना में आत्मा की ऊँचाई ही उसकी महानता को दर्शाती है। उनका मानना था कि सच्चा साहित्य वही रच सकता है जिसकी सोच उदार और दृष्टि व्यापक हो। जो लोग जीवन भर तुच्छ स्वार्थों और संकीर्ण उद्देश्यों में उलझे रहते हैं, वे मानवता के लिए कोई स्थायी और मूल्यवान रचना नहीं दे सकते। यह स्वाभाविक ही है कि महान विचारों से परिपूर्ण मस्तिष्क से ही उच्च भावनाओं से युक्त शब्दों का उद्गार होता है। लोंजाइनस के इस कथन को यदि हिन्दी साहित्य के रचनाकारों पर लागू करें, तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम सबसे पहले आता है। उनका दृष्टिकोण समग्र मानवता को लेकर था और वे अपने चिंतन में अत्यंत उदात्त थे। वे प्रगतिशील सोच के लेखक थे, जिन्होंने परंपरा और नवीनता के बीच संतुलन स्थापित कर साहित्य को एक नई दिशा दी। उन्होंने भारतीय साहित्य की उन धाराओं को भी उजागर किया, जो समय के गर्भ में छिपी हुई थीं। कबीर जैसे संत कवियों की व्याख्या उन्होंने आधुनिक दृष्टिकोण से की और प्राचीन संस्कृति के विस्मृत पहलुओं से नए विचार और तथ्यों को खोजकर उन्हें आज के सन्दर्भों में सार्थक सिद्ध किया।

द्विवेदी जी की विश्लेषण क्षमता अद्भुत थी। वे किसी भी विषय की गहराई में जाकर, गहन अध्ययन और चिंतन के पश्चात ही निष्कर्ष पर पहुँचते थे। उनकी शोध प्रवृत्ति और रचनात्मक प्रतिभा के कारण हमारी सांस्कृतिक धरोहर के वे हिस्से भी सामने आए जिन्हें पहले साहित्य जगत ने या तो नजरअंदाज किया था या उन्हें ठीक से प्रस्तुत करने वाला कोई नहीं था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक सोच और आलोचना के केंद्र में मानवतावाद की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। वे हर विषय को मानवीय मूल्यों के आधार पर परखते थे और तभी उसका समर्थन करते थे जब उसमें जनहित, लोकमंगल और मानवता की भलाई निहित होती थी। उनके लिए साहित्य, इतिहास या कला–सभी की कसौटी एक ही थी: मानव कल्याण। डॉ. यदुनाथ चौबे का मत है कि द्विवेदी जी शास्त्रों के गूढ़ तत्वों को भी लोकदृष्टि से समझाते थे। उनके अनुसार साहित्य

का उद्देश्य मानव समाज को सुंदर और संवेदनशील बनाना है, न कि केवल बौद्धिक प्रदर्शन करना। उन्हें 'कला सिर्फ कला के लिए' जैसा विचार कभी स्वीकार नहीं था। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे निष्क्रिय होकर किसी तटस्थ दृष्टिकोण का पालन करते थे। इसके विपरीत, वे परंपरा और आधुनिकता के बीच एक भावनात्मक और जीवंत संबंध स्थापित करते थे, जिससे दोनों में सामंजस्य संभव हो सके।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मानवतावादी दृष्टिकोण की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह केवल सहृदयता तक सीमित नहीं, बल्कि समयानुकूल और वैज्ञानिक भी है। वे एक प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य होने के बावजूद किसी भी तथ्य को आँख मूँदकर स्वीकार नहीं करते थे। किसी भी विषय या विचार को वे वैज्ञानिक दृष्टि और मानवीय मूल्यों की कसौटी पर परखते थे, और उसी के अनुरूप उसे स्वीकार या अस्वीकार करते थे। उनकी इस वैज्ञानिक प्रवृत्ति को गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभाव का परिणाम माना जा सकता है। डॉ. नामवर सिंह इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि ''द्विवेदी जी हिन्दी के उन गिने-चुने लेखकों में से हैं, जिन्होंने बीसवीं सदी के चौथे दशक में ही विज्ञान और वैज्ञानिक सोच के महत्व को गहराई से समझा और स्वीकार किया।''



अपनी प्रगति जाँचें

प्रश्न संख्या 1. बचपन में द्विवेदी जी को किस नाम से पुकारा जाता था?

प्रश्न संख्या 2. बाणभट्ट की आत्मकथा किस प्रकार का विधा है?

प्रश्न संख्या 3. 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' ग्रन्थ में किस विषय पर प्रमुख रूप में चर्चा की गई है?

पश्न संख्या 4. द्विवेदी द्वारा रचित तीन प्रमुख निबंध-संग्रह का नाम लिखिए।

5.5 शुक्ल जी और द्विवेदी जी की आलोचना-दृष्टि में साम्य-वैषाम्य

हिंदी आलोचना के इतिहास में आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी दो ऐसे स्तंभ हैं, जिन्होंने आलोचना के क्षेत्र को मौलिकता, दृष्टि

और गहराई प्रदान की। दोनों ने साहित्य को समाज और संस्कृति से जोड़ने का कार्य किया, किंतु उनके दृष्टिकोण, पद्धति और विचारधारा में स्पष्ट अंतर दिखाई देता है। नीचे दिए गए बिंदुओं के माध्यम से इस भेद और साम्य को समझा जा सकता है –

आलोचना की पद्धति

- शुक्ल जी की आलोचना पद्धति तथ्यपरक, वैज्ञानिक और ऐतिहासिक थी। वे साहित्य को कालक्रमिक विश्लेषण और तार्किक विवेचन द्वारा समझते थे।

  →उदाहरण:

  'हिंदी साहित्य का इतिहास' में उन्होंने काव्यधाराओं का वर्गीकरण समय और प्रवृत्तियों के आधार पर किया।

- द्विवेदी जीकी आलोचना पद्धति संवादात्मक, सांस्कृतिक और दार्शनिक थी। वे साहित्य को समाज, परंपरा और आत्मिक चेतना से जोड़कर देखते थे।

  →उदाहरण:

  ''कबीर'' में उन्होंने भक्तिकाल की साधना परंपरा का गहन विश्लेषण किया।

2. दृष्टिकोण

- शुक्ल जीका दृष्टिकोण यथार्थवादी और लोक कल्याण कारी था। वे साहित्य को समाज का दर्पण मानते थे और मानवीय मूल्यों को सर्वोपरि रखते थे।
- द्विवेदी जी का दृष्टिकोण संवाद धर्मी, संस्कृति-संपृक्त और आध्यात्मिक था। वे साहित्य को आत्मा और ब्रह्मांड के बीच एक सेतु के रूप में देखते थे।

3. इतिहास और परंपरा के प्रति दृष्टिकोण

- शुक्ल जीने इतिहास को कालक्रमिक विकास के रूप में देखा और परंपरा को सामाजिक यथार्थ के साथ जोड़ा।
- द्विवेदी जीने इतिहास को संस्कृति की निरंतरता माना और परंपरा को एक जीवंत, गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखा। वे परंपरा को केवल अनुसरण नहीं, संवाद और पुनर्सृजन का क्षेत्र मानते थे।

अपनी प्रगति जाँचें

प्रश्न संख्या 5. इतिहास और परम्परा के प्रति हजारी प्रसाद द्विवेदी का दृष्टिकोण कैसा था?

प्रश्न संख्या 6. सौन्दर्यबोध और भावुकता के प्रति हजारी प्रसाद द्विवेदी का दृष्टिकोण कैसा था?

4. भाषा और शैली

- शुक्ल जी की भाषा तर्कपूर्ण, गंभीर और संक्षिप्त है। वे जटिल बातों को भी सटीक शब्दों में प्रस्तुत करते थे।
- द्विवेदी जी की भाषा गंभीर किंतु सौंदर्य परक थी। वे भाव, बिंब, और उपमा के माध्यम से आलोचना में कलात्मकता लाते थे। उनकी आलोचना निबंधात्मक शैली में होती थी, जो पाठक को आकर्षित करती है।

5. मूल्य और नैतिकता की भूमिका

- शुक्ल जी साहित्य में नीतिपरकता और सामाजिक आदर्श को आवश्यक मानते थे। उनका मानना था कि साहित्य का उद्देश्य केवल आनंद नहीं, बल्कि चरित्र निर्माण भी है।
- द्विवेदी जीने भी मूल्यों को महत्व दिया, परंतु उनका दृष्टिकोण अधिक सहिष्णु और गहराई लिए हुएथा। वे साहित्य को आध्यात्मिक विकास का साधन भी मानते थे।



महत्वपूर्ण बिंदु

हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना की नींव उनके विस्तृत अध्ययन, तार्किक दृष्टिकोण और गहरे सांस्कृतिक बोध के समन्वय पर टिकी है। वे साहित्य को केवल सौंदर्यपरक या कलात्मक रचना नहीं मानते, बल्कि उसे सामाजिक और ऐतिहासिक सन्दर्भों में भी परखते हैं। उनके विचार में साहित्य का कार्य केवल आनंद प्रदान करना नहीं, बल्कि समाज को सचेत करना और उसके भीतर छिपे संघर्षों व पीड़ाओं को उजागर करना भी है। उनकी आलोचना शैली में सादगी और गंभीरता का संतुलन स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, जो पाठकों को न केवल विषय की गहराई से परिचित कराता है, बल्कि उन्हें विचार करने के लिए भी प्रेरित करता है। आचार्य द्विवेदी की आलोचनात्मक दृष्टि हिंदी साहित्य की परंपरा को सहेजते हुए, उसमें नए दृष्टिकोणों और चर्चाओं को स्थान देती है।

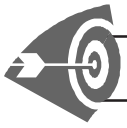


5.6 सारांस

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचनात्मक दृष्टि ने हिंदी साहित्य में एक नए युग का सूत्रपात किया। उन्होंने केवल रस, छंद, और भाव की अनुभूतितक सीमित न रखकर उससे आगे ले जाते हुए साहित्य को इतिहास, समाज, विचार और मानवता की कसौटी से परखा। उनकी आलोचना दृष्टि न केवल आज भी प्रासंगिक है, बल्कि यह समकालीन आलोचना के लिए भी एक ठोस बौद्धिक आधार प्रदान करती है। वे आलोचक नहीं, एक चिंतक थे, जिन्होंने साहित्य को समाज और संस्कृति के केंद्र में रखकर देखा।

- रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी मेंवैज्ञानिक और ऐतिहासिक आलोचना की नींव रखी,
- जबकि हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आलोचना को संवाद, सांस्कृतिक चेतना और गूढ़ विचार से समृद्ध किया।

जहाँ शुक्ल जी की आलोचना तार्किकता की कसौ टीपर खड़ी होती है, वहीं द्विवेदी जी की आलोचना आत्मिक और सांस्कृतिक संवादकी भूमि पर। दोनों की दृष्टियाँ भिन्न होते हुए भी एक-दूसरे की पूरक हैं, और आज भी हिंदी आलोचना की आधारशिला बनी हुई हैं।



5.7 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

पश्न संख्या 1. का उत्तर : बचपन में द्विवेदी जी को, 'वैद्यनाथ द्विवेदी' कहकर पुकारा जाता था।

प्रश्न संख्या 2. का उत्तर : उपन्यास विधा है।

प्रश्न संख्या 3. का उत्तर : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

प्रश्न संख्या 4. का उत्तर : अशोक के फूल, विचार-प्रवाह, कल्पलता।

प्रश्न संख्या 5. का उत्तर : द्विवेदी जीने इतिहास कोसंस्कृति की निरंतरतामाना और परंपरा को एक जीवंत, गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखा। वे परंपरा को केवल अनुसरण नहीं, संवाद और पुनर्सृजन का क्षेत्र मानते थे।

प्रश्न संख्या 6.का उत्तर : के लिए इकाई को ध्यान से पढ़िए।



5.8 अधिक जानने के लिए पढ़े

- द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद. (1960). साहित्य का उद्देश्य. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
- सिंह, नामवर. (1980). आलोचना और दृष्टि: हजारी प्रसाद द्विवेदी. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
- वाजपेयी, नंददुलारे. (1965). आधुनिक साहित्य. इलाहाबाद: भारतीय भंडारे।
- द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद.(1981). हिंदी साहित्य की भूमिका. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
- द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद. (1987). साहित्य का मर्म. दिल्ली: रामकमल प्रकाशन।
- द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद.(1992). हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास. दिल्ली: रामकमल प्रकाशन।
- द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद. (ठ्ठ.स्त्र.). हिंदी साहित्य का आदिकाल. दिल्ली: रामकमल प्रकाशन।
- द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद.(1966). अशोक के फूल. दिल्ली: रामकमल प्रकाशन।
- यादव, चंद्रदेव.(1982). आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी. दिल्ली: प्रेम प्रकाशन।
- तिवारी, रामचंद्र.(1981). आलोचना का दायित्व. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन।

5.9 अभ्यास प्रश्न

क) संक्षिप्त पश्नों के उत्तर लिखिए:

1. द्विवेदी जी किस घराने से थे?
2. उनके आलोचनात्मक दृष्टि में परंपरा और आधुनिकता का क्या स्थान है?
3. 'अशोक के फूल' के रचनाकार कौन है?
4. द्विवेदी द्वारा रचित दो उपन्यासों के नाम लिखिए।

5. द्विवेदी जी को कब पद्मभूषण की उपाधि दी गई थी?

ख) निम्नलिखित प्रश्नों के संक्षिप्त उत्तर दीजिए

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टि में सांस्कृतिक और ऐतिहासिक चेतना के योगदान पर विस्तार से चर्चा कीजिए?
2. द्विवेदीजी की रचनाओं के आधार पर उनके आलोचना की प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए?
3. शुक्ल और द्विवेदी की आलोचना-दृष्टि में निहित साम्य-वैषाम्य को स्पष्ट कीजिए?
4. द्विवेदी के प्रमुख रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
5. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक और वैचारिक दृष्टि को अपने शब्दों में स्पष्ट कीजिए।

******

इकाई 6 : नन्ददुलारे वाजपेयी की आलोचनात्मक दृष्टि

इकाई की रूपरेखा

6.1 उद्देश्य
6.2 प्रस्तावना
6.3 वाजपेयी जी का सामान्य परिचय
6.4 वाजपेयी आलोचनात्मक दृष्टि
6.5 सारांश
6.6 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)
6.7 अधिक जानने के लिए पढ़ें
6.8 अभ्यास पश्न

6.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप

- उनके जीवन और साहित्य के बारे में जान पाएंगे।
- नंददुलारेजी की आलोचना संबंधित दृष्टिकोणों से अवगत हो पाएंगे।
- उनके आलोचना के महत्व को समझ पाएंगे।
- उनके आलोचन के सूक्ष्म से सूक्ष्म से सूक्ष्म चीजों से रूबरू हो सकेंगे।
- उनके आलोचना के सूक्ष्म से सूक्ष्मविषय-वस्तु से अवगत हो सकेंगे।
- हिंदी आलोचना के विकास में उनके योगदान को समझ सकेंगे।

6.2 प्रस्तावना

नंददुलारे वाजपेयी हिंदी साहित्य के प्रमुख आलोचक, साहित्यकार और शिक्षाविद् थे। उन्होंने हिंदी साहित्य की आलोचना को एक नई दिशा दी और इसे एक सैद्धांतिक आधार प्रदान किया। उनका जन्म सन् 1906 में उन्नाव के मगरैर में हुआ था और उन्होंने अपने समय के प्रमुख साहित्यिक आंदोलनों, विशेषकर छायावाद और प्रगतिवाद, की गहराई से समीक्षा की। उनको छायावाद काव्य सौष्ठव एवं उसके आतंरिक बाह्य सौन्दर्य का उद्घाटन करने का श्रेय जाता है। उनके हाथों छायावादी काव्य को मान्यता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। उनको सौष्ठाववादी एवं स्वछंदतावादी आलोचक भी माना जाता है। वाचपेयी की आलोचनात्मक विचारों में विभिन्न वादों का सामंजस्य प्राप्त होता है।

वाजपेयीजी साहित्य को स्वतंत्र संवेदन का प्रतीक मानते हैं। उनके अनुसार, स्वतंत्रता का अर्थ है–अपनी अनुभूतियों और विचारों के आधार पर विकास की नई दिशाएँ खोजना। वे जब साहित्य और समाज के संबंधों पर विचार करते हैं, तब साहित्य के निरंतर परिवर्तनशील स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। उनका कहना है कि साहित्य का मूल विषय मानव जीवन है, और क्योंकि मानव जीवन निरंतर विकसित होता रहता है, इसलिए साहित्य भी लगातार विकासशील रहेगा। साहित्य की एक सामान्य परिभाषा यह हो सकती है कि यह विकासशील मानव जीवन के महत्त्वपूर्ण और भावनात्मक पहलुओं की अभिव्यक्ति है। वाजपेयी जी ने आलोचना को केवल साहित्यिक मूल्यांकन तक सीमित न रखकर उसे सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों से जोड़ा। उनकी आलोचना संतुलित, तर्कसंगत और तथ्यपरक मानी जाती है। उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना परंपरा को आगे बढ़ाया, किंतु उसमें नवीनता और समसामयिक दृष्टिकोण भी जोड़ा।

वाजपेयीजी रस को मानवतावाद का पर्याय मानते है। उन्होंने रस में बुद्धितत्व को स्वीकार किया है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने सन् 1927 से 1967 तक लगभग चार दशकों तक हिन्दी साहित्य की निरंतर सेवा की। उनकी इस तप:पूर्ण साधना ने हिन्दी आलोचना को समृद्ध किया, जिसके लिए हिन्दी साहित्य सदैव उनका आभारी रहेगा। वाजपेयीजी न केवल एक उत्कृष्ट निबंधकार और समर्पित आलोचक थे, बल्कि उन्होंने एक दक्ष संपादक के रूप में भी अपनी पहचान बनाई। हालांकि, उनकी साहित्यिक यात्रा की शुरुआत एक कवि के रूप में हुई थी, परंतु आलोचना के क्षेत्र में उनकी गहरी और प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण उनका कवि–स्वर कहीं पीछे छूट गया।

उनकी प्रमुख कृतियों में ''हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'', ''काव्य की भूमिका'',और ''साहित्य और समीक्षा'' उल्लेखनीय हैं। इन ग्रंथों के माध्यम से उन्होंने साहित्य की वैचारिक समझ को विस्तार दिया और पाठकों को साहित्यिक मूल्यों की गहराई से पहचान कराई।

शिक्षा क्षेत्र में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा। वे नागपुर विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष रहे और अनेक विद्यार्थियों को साहित्यिक दृष्टि प्रदान की।

नंददुलारे वाजपेयी का साहित्यिक अवदान आलोचना के क्षेत्र में एक

मजबूत स्तंभ के रूप में देखा जाता है। उन्होंने हिंदी आलोचना को परिपक्वता और प्रामाणिकता दी, जिससे आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास संभव हुआ। उनके विचार आज भी प्रासंगिक हैं और हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों एवं शोधकर्ताओं के लिए प्रेरणास्रोत बने हुए हैं।

6.3 वाजपेयी जी का सामान्य परिचय

नंददुलारे वाजपेयी हिंदी साहित्य के प्रमुख आलोचक, विद्वान, विचारक और शिक्षाविद् थे, जिन्होंने हिंदी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्हें आधुनिक हिंदी आलोचना का एक मजबूत स्तंभ माना जाता है। नीचे उनके जीवन और साहित्य के बारें में चर्चा उपलब्ध हैं।

जीवन परिचय :

वाजपेयी जी का जन्म सन् 1906 में उत्तर प्रदेश के उन्नाव जनपद में हुआ था। उन्हें शिक्षा से विशेष लगाव था, और उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिंदी विषय में उच्च शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन साहित्य और शिक्षा को समर्पित किया। वे नागपुर विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष पद पर वर्षों तक कार्यरत रहे, जहाँ उन्होंने विद्यार्थियों को साहित्य और आलोचना की गहरी समझ प्रदान की। अध्यापन के अतिरिक्त वे पाठ्यक्रम निर्माण और हिंदी भाषा के मानकीकरण में भी सक्रिय रूप से शामिल रहे।

साहित्यिक परिचय :

नंददुलारे वाजपेयी मुख्यत: एक सिद्धांतपरक और विवेकपूर्ण आलोचक के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने हिंदी आलोचना को भावुकता से निकाल कर तर्क, विवेक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की ओर मोड़ा। उनके आलोचनात्मक लेखन में साहित्य का गहराई से मूल्यांकन, ऐतिहासिक दृष्टिकोण और सामाजिक संदर्भों का समावेश दिखाई देता है। वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना परंपरा से प्रभावित अवश्य थे, लेकिन उन्होंने उसमें अपनी स्वतंत्र और आधुनिक दृष्टि का समावेश किया।

1927-28 से 1966-67 तक लगभग चालीस वर्षों के अपने साहित्यिक कार्यकाल में नंददुलारे वाजपेयी ने छायावाद के साथ-साथ प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता जैसे विभिन्न साहित्यिक धाराओं पर गहन लेखन किया। उन्होंने सूरसागर और रामचरित मानस का संपादन भी किया। इसके अतिरिक्त, प्रेमचंद,

निराला, पंत जैसे साहित्यकारों और रस सिद्धांत पर भी महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। अपने युग के अनेक लेखकों और वैचारिक विमर्शों पर उनके समीक्षात्मक निबंध पुस्तक रूप में संकलित हैं।

उनकी प्रमुख रचनाओं में 'हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी' (1942), 'आधुनिक साहित्य' (1950), 'सूरदास' (1953), 'प्रेमचंद: एक साहित्यिक विवेचन' (1953, छात्रोपयोगी), 'नया साहित्य: नए प्रश्न' (1955), 'राष्ट्र भाषा की कुछ समस्याएँ' (1961), 'कवि निराला' (1965) तथा मृत्यु के बाद प्रकाशित 'कवि सुमित्रानंदन पंत' (1997), 'रस सिद्धांत नए संदर्भ' (1997) और 'नई कविता' (1997) शामिल हैं। 1928 में 'माधुरी' पत्रिका में प्रकाशित उनका प्रथम समीक्षात्मक लेख 'सत्समालोचना' माना जाता है, जिसने उनके आलोचनात्मक सफर की शुरुआत की। इस प्रकार उनका लेखन साहित्य के विविध आयामों को समझने और व्याख्यायित करने में समर्पित रहा।



महत्वपूर्ण बिंदु

वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष रहे। अनेक शोध छात्रों का मार्गदर्शन किया और हिंदी साहित्य के इतिहास को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्थापित किया।

वाजपेयी जी का आलोचना दृष्टिकोण न केवल साहित्यिक था, बल्कि उसमें सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य भी समाहित थे। वे यह मानते थे कि साहित्य समाज का दर्पण होता है, अत: उसकी समीक्षा करते समय लेखक, युग और सामाजिक परिस्थितियों का सम्यक् विश्लेषण आवश्यक है।

शैली और दृष्टिकोण :

उनकी लेखन शैली प्रांजल, तार्किक और गंभीर होती थी। वे भावुकता से अधिक तर्क और तथ्यों पर आधारित आलोचना में विश्वास रखते थे। यही कारण है कि उनके आलोचनात्मक लेखन को एक उच्च मानदंड के रूप में स्वीकार किया गया। उन्होंने छायावाद, प्रगतिवाद और नई कविता जैसे आंदोलनों का संतुलित मूल्यांकन किया, जिसमें न तो अंध-समर्थन था और न ही पूर्वग्रहपूर्ण आलोचना।

निधन और स्मृति :

नंददुलारे वाजपेयी का निधन 1981 में हुआ, लेकिन उनके विचार और लेखन आज भी हिंदी साहित्य की दुनिया में उतने ही प्रासंगिक हैं। वे केवल एक आलोचक नहीं थे, बल्कि हिंदी साहित्य को एक दिशा देने वाले विचारक थे। उन्होंने साहित्य के पाठकों और विद्यार्थियों को यह सिखाया कि साहित्य को केवल भावों से नहीं, बल्कि सोच और विवेक से भी समझना चाहिए।

अत: नंददुलारे वाजपेयी हिंदी आलोचना के क्षेत्र में एक ऐसी विरासत छोड़ गए हैं जो आने वाली पीढ़ियों को साहित्यिक मूल्यांकन की गंभीरता और गहराई सिखाती है।

6.4 उनके आलोचनात्मक दृष्टि

हिंदी साहित्य के आधुनिक आलोचना क्षेत्र में नंददुलारे वाजपेयी का नाम एक ऐसे स्तंभ के रूप में लिया जाता है, जिन्होंने आलोचना को एक परिपक्व, संतुलित और वैचारिक अनुशासन के रूप में स्थापित किया। उन्होंने साहित्यिक आलोचना को केवल भावनात्मक प्रतिक्रियाओं और लेखक-प्रशंसा की सीमा से ऊपर उठाकर उसे एक सैद्धांतिक, विवेकसम्मत और सामाजिक संदर्भों से जोड़ने का कार्य किया। उनका आलोचनात्मक दृष्टिकोण बहुआयामी था—जिसमें साहित्य, समाज, संस्कृति, इतिहास और मनोविज्ञान के गहरे सरोकार समाहित थे।

आलोचना की अवधारणा :

नंददुलारे वाजपेयी आलोचना को एक रचनात्मक और उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य मानते थे। उनके अनुसार आलोचना का कार्य केवल साहित्य का मूल्यांकन करना नहीं है, बल्कि यह साहित्य को समझने, उसकी व्याख्या करने और उसे समाज के व्यापक संदर्भ में देखने की प्रक्रिया है। उन्होंने आलोचना को ''काव्य का मर्म उद्घाटन'' कहा है, जो केवल सौंदर्यबोध की नहीं, बल्कि मूल्यबोध की भी प्रक्रिया है।

उनका मानना था कि आलोचना को न तो अंध-प्रशंसा का माध्यम बनाना चाहिए और न ही निरर्थक निंदा का। वे मानते थे कि आलोचक को विवेकवान, संवेदनशील, ज्ञानवान और निष्पक्ष होना चाहिए, जिससे वह साहित्य की वास्तविक पहचान कर सके।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण :

वाजपेयी जी की आलोचना दृष्टि में ऐतिहासिक चेतना स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। वे साहित्य को उसके ऐतिहासिक विकासक्रम में देखने के पक्षधर थे। उनका मानना था कि साहित्य किसी विशेष समय और समाज की उपज होता है, अत: उसकी आलोचना करते समय उस युग विशेष की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों को समझना अत्यंत आवश्यक है।

उन्होंने ''हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'' जैसी कृति के माध्यम से साहित्य के विकास को ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत किया। इस कृति में वे केवल रचनाओं का वर्णन नहीं करते, बल्कि उनके पीछे के सामाजिक-ऐतिहासिक कारकों की गहराई से जांच करते हैं। यही दृष्टि उन्हें अन्य आलोचकों से अलग बनाती है।

वस्तुनिष्ठता और संतुलन :

नंददुलारे वाजपेयी की आलोचना दृष्टि की एक महत्वपूर्ण विशेषता है उसकी वस्तुनिष्ठता। वे किसी भी साहित्यिक रचना या लेखक का मूल्यांकन पूर्वग्रह से नहीं करते थे। वे न तो किसी आंदोलन के अंध-समर्थक थे और न ही विरोधी। उदाहरण के तौर पर, उन्होंने छायावाद की आलोचना की, लेकिन उसके रचनात्मक योगदान को भी स्वीकारा। उन्होंने प्रगतिवाद की सीमाओं को उजागर किया, किंतु उसकी सामाजिक चेतना को भी महत्व दिया।

उनकी संतुलित दृष्टि का प्रमाण यह है कि वे प्रेमचंद, निराला, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा और दिनकर जैसे विविध रचनाकारों के साहित्य का समीक्षण उसी संवेदनशीलता और निष्पक्षता से करते हैं।

सैद्धांतिक आधार :

वाजपेयी जी की आलोचना केवल अनुभव या अभिरुचि पर आधारित नहीं थी, बल्कि उसके पीछे गहरा सैद्धांतिक आधार होता था। उन्होंने साहित्य के मूल्यांकन के लिए कुछ निश्चित कसौटियाँ निर्धारित कीं, जिनमें रचना की सामाजिक प्रासंगिकता, भाव और विचार का संतुलन, भाषा की अभिव्यक्तिगत शक्ति, शैली की मौलिकता और पाठक पर प्रभाव आदि शामिल हैं।

उनकी कृति ''काव्य की भूमिका'' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है, जिसमें उन्होंने काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों को आधुनिक संदर्भों में व्याख्यायित किया है। वे भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा को जानते थे, साथ ही पाश्चात्य आलोचना

सिद्धांतों से भी परिचित थे। उनकी लेखनी में अरस्तू, कोलरिज, मैथ्यू अर्नोल्ड जैसे पाश्चात्य आलोचकों की छाया भी यथासमय परिलक्षित होती है।

सौन्दर्य प्रेम

वाजपेयी जी की आलोचना-दृष्टि को भलीभाँति समझने के लिए हमें सूरदास और जयशंकर प्रसाद पर उनकी टिप्पणियों पर ध्यान देना चाहिए। सूरदास के गोचरण और गोवर्धन-धारण जैसे प्रसंगों में जो सौन्दर्य है, वह वाजपेयी जी को अत्यंत प्रभावित करता है। इसीलिए वे कहते हैं कि-''सूरदास की काव्य-विशेषता यही है कि वे किसी विशेष स्थिति का सम्पूर्ण चित्रण करते हैं, घटनाओं की क्रमबद्ध झलक भी देते हैं और साथ ही उच्चकोटि के रूप-सौन्दर्य को भी प्रभावी रूप से प्रस्तुत करते चलते हैं।'' इससे स्पष्ट होता है कि वाजपेयी जी सौन्दर्य-बोध में गहरी आस्था रखते हैं। संभवत: इसी कारण जयशंकर प्रसाद उनके सबसे प्रिय कवि बने। डॉ. रामचन्द्र तिवारी का मत भी इसी ओर संकेत करता है-''यदि आचार्य शुक्ल ने अपने काव्य-सिद्धांत तुलसीदास के आधार पर गढ़े हैं, तो यह कहना गलत नहीं होगा कि वाजपेयी जी की काव्य-मान्यताएँ प्रसाद से अनुप्राणित हैं।''

रस विषयक दृष्टि

वाजपेयी जी ने प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य आलोचना परंपराओं का गहन अध्ययन कर अपने साहित्यिक दृष्टिकोण का विकास किया। पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होने के कारण वे काव्य को एक कला रूप मानते हैं, जबकि पारंपरिक भारतीय काव्यशास्त्र काव्य को मात्र कला के रूप में नहीं देखता। वे रस को 'ब्रह्मानन्द का सहोदर' कहने वाली परम्परागत अवधारणा से भी सहमत नहीं हैं। उनका मानना है कि इस परिभाषा की आड़ में कई ऐसे तत्व प्रस्तुत किए गए हैं, जो भारतीय समाज और संस्कृति की वास्तविकता को नहीं दर्शाते। उनका यह भी विचार है कि रस-सिद्धांत को इतना व्यापक बनाया जाना चाहिए कि वह संपूर्ण साहित्यिक आलोचना का मूल आधार बन सके। रस को केवल एक आत्मिक अनुभूति या ब्रह्मानन्द से जोड़कर सीमित करना उचित नहीं है। इसकी परिधि को इतना विस्तृत किया जाना चाहिए कि कला से मिलने वाले समस्त आनन्द को 'रस' कहा जा सके। वाजपेयी जी के रस संबंधी विचारों से यह स्पष्ट होता है कि वे अभिव्यंजनावाद के समर्थक नहीं हैं।



अपनी प्रगति जाँचें

प्रश्न संख्या 1. नंददुलारे वाजपेयी किस प्रकार के आलोचक थे?

पश्न संख्या 2. नंददुलारे वाजपेयी के आलोचनात्मक ग्रंथों का नाम उल्लेख करें?

पश्न संख्या 3. नंददुलारे वाजपेयी का जन्म कब हुआ था?

पश्न संख्या 4. 'काव्य की भूमिका' के रचनाकार कौन है?

पश्न संख्या 5. नंददुलारे वाजपेयी की 'रस विषयक दृष्टि' पर अपना मत स्पष्ट कीजिए।

साहित्य और समाज का संबंध

नंददुलारे वाजपेयी साहित्य को समाज से अलग कर नहीं देखते थे। उनका विश्वास था कि साहित्य का मूल उद्देश्य केवल सौंदर्य की रचना नहीं, बल्कि समाज में संवेदनशीलता, नैतिकता और विचारशीलता उत्पन्न करना है। इसीलिए वे साहित्य की समीक्षा करते समय यह भी देखना आवश्यक समझते थे कि वह समाज के किन प्रश्नों को उठाता है, किन वर्गों की आवाज बनता है, और किस प्रकार के मूल्यों का निर्माण करता है।

उन्होंने स्पष्ट कहा कि ''साहित्य का मर्म तभी समझा जा सकता है जब हम उसे समाज के परिप्रेक्ष्य में देखें।'' इसी वजह से वे साहित्यिक आंदोलनों की सामाजिक प्रासंगिकता की भी परख करते हैं। छायावाद को वे आत्मपरकता का प्रतीक मानते हैं, जबकि प्रगतिवाद को जनचेतना से जोड़ते हैं।

उनकी प्रमुख आलोचनात्मक कृतियाँ और उनका सामान्य परिचय:

आचार्य वाजपेयी का पहला आलोचनात्मक ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य–बीसवीं शताब्दी' है, जिसमें 1930 से 1940 के दशक के बीच लिखे गए निबंधों को संकलित किया गया है। इस कृति में उन्होंने काव्य के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत और सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की रचनाओं पर विचार किया है, वहीं गद्य साहित्य के अंतर्गत आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचंद्र शुक्ल को विशेष रूप से स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, रत्नाकर और अंचल जैसे कवियों तथा प्रेमचंद, जैनेन्द्र कुमार और भगवतीप्रसाद वाजपेयी जैसे उपन्यासकारों की कृतियों पर भी विचार किया है। यह ग्रंथ वाजपेयी जी के साहित्यिक दृष्टिकोण और चिंतन को समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने साहित्य आलोचना से

संबंधित सात महत्वपूर्ण सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है।

'जयशंकर' वाजपेयी जी की दूसरी आलोचनात्मक कृति है, जिसमें जयशंकर प्रसाद पर केंद्रित कुल पंद्रह निबंध शामिल हैं। इन निबंधों के माध्यम से उन्होंने प्रसाद के काव्य, नाटक, उपन्यास और समीक्षा साहित्य का गहराई से विश्लेषण किया है। साथ ही, वाजपेयी जी ने प्रसाद के व्यक्तित्व और साहित्यिक योगदान की विशेषताओं को भी स्पष्ट रूप से उजागर किया है।

'प्रेमचंद: साहित्यिक विवेचन' इस ग्रंथ में प्रेमचंद के समग्र साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। वाजपेयी जी ने उन्हें एक प्रमुख उपन्यासकार और कहानीकार के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उनके साहित्य के विविध पक्षों पर विचार किया है। उन्होंने इस विवेचन को समग्र और संतुलित दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

'आधुनिक साहित्य' शीर्षक यह कृति छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद जैसी प्रमुख साहित्यिक धाराओं पर लिखे गए निबंधों का संग्रह है। इसमें काव्य, कथा-साहित्य (उपन्यास व कहानी), नाटक, गद्य, समीक्षा, साहित्यिक प्रवृत्तियाँ, सिद्धांत और विचारधाराओं को सात खंडों में विभाजित कर प्रस्तुत किया गया है। इस संग्रह में सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना से जुड़े उत्कृष्ट निबंध संकलित हैं।

'नया साहित्य: नए प्रश्न' कृति चार खंडों में विभक्त है-'निकष','विवेचन और निरूपण','वार्ताएँ और वक्तव्य' तथा 'दार्शनिक निबंध'। इसमें वाजपेयी जी ने समकालीन साहित्य की दिशा और समस्याओं को समझने का प्रयास किया है। 'निकष' खंड विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जहाँ उन्होंने आत्म-आलोचनात्मक दृष्टि अपनाते हुए अपनी पूर्व रचनाओं की कमियों और उपलब्धियों पर ईमानदारी से विचार किया है।

महाकवि सूरदास' नामक रचना महात्मा सूरदास के जीवन और उनके साहित्यिक योगदान की गहराई से समीक्षा करती है। इस पुस्तक की भूमिका में वाजपेयी जी ने भारतीय धर्म में भक्ति परंपरा के विकास पर विशेष ध्यान दिया है। इसमें भक्ति से संबंधित सभी प्रमुख दार्शनिक संप्रदायों का परिचय भी दिया गया है, जो न केवल सूरदास की कविता को समझने में सहायक है, बल्कि सम्पूर्ण भक्ति साहित्य की समग्रता को भी समझने में मार्गदर्शक सिद्ध होता है। इस कृति में सूर-काव्य का भावात्मक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक और नैतिक दृष्टियों से विश्लेषण किया गया है, जो इसे एक महत्वपूर्ण ग्रंथ के रूप में स्थापित करता है।

'कवि निराला' शीर्षक से एक अन्य रचना में, वाजपेयी जी ने निराला के समूचे काव्य-यात्रा का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने निराला के काव्य विकास के चार प्रमुख चरणों को रेखांकित किया है-पहला, मुक्त छंद की शुरुआत; दूसरा, छंदबद्ध एवं संगीतात्मक रचनाओं का सृजन; तीसरा, गीतात्मक काव्य-रचना का विकास; और चौथा, प्रगतिशील और प्रयोगशील तत्वों का समावेश।

'राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध' नामक संग्रह में भारतीय साहित्य की राष्ट्रीय भावना के निर्माण और विकास से जुड़े निबंध संकलित हैं। इनमें साहित्यकार का दायित्व,समाज और साहित्य, आधुनिकता बनाम भारतीयता, शोध और समीक्षा जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर विचार किया गया है। साथ ही छायावाद, स्वच्छंदतावाद, रहस्यवाद और यथार्थवाद पर भी विश्लेषणपरक निबंध शामिल हैं।

'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ' शीर्षक वाले खंड में हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार के संदर्भ में विशेष रूप से केरल में दिए गए व्याख्यानों को स्थान मिला है। इन लेखों में साहित्य, वक्तृता कला, सांस्कृतिक परंपरा, राष्ट्रीय एकता और भारत की भाषाई समस्याओं जैसे विषयों को उठाया गया है।

'प्रकीर्णिका' खंड में वाजपेयी जी द्वारा विविध विषयों पर समय-समय पर लिखे गए निबंधों का संग्रह है। इनमें काव्यशास्त्र से जुड़ी रचनाएँ, पुस्तक समीक्षाएँ, साहित्यिक महापुरुषों की स्मृति में लिखे गए संस्मरणात्मक निबंध और अन्य फुटकर लेख सम्मिलित हैं।

'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' शीर्षक वाला ग्रंथ हिंदी साहित्य के इतिहास को अत्यंत सरल और संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें समय के साथ साहित्यिक मूल्यों में आए परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए इतिहास लेखन किया गया है।

इन ग्रंथों में उनकी गहराई, स्पष्टता, तार्किकता और संतुलन की दृष्टि स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

आलोचनात्मक शैली

वाजपेयी जी की आलोचना शैली गंभीर, विद्वत्तापूर्ण और प्रांजल है। वे अपनी बात को स्पष्ट, सरल लेकिन सटीक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। उनका लेखन पाठकों को सोचने पर विवश करता है। उनकी भाषा में न तो अनावश्यक क्लिष्टता है, न ही भावुकतापूर्ण अलंकरण। वे तर्कों और उदाहरणों के माध्यम से अपनी बात को सिद्ध करते हैं।

उनकी शैली में एक ऐसी विनम्र विद्वत्ता है, जो न तो पाठक पर हावी होती है और न ही लेखक की प्रतिष्ठा पर प्रहार करती है। वे संवाद की भाषा में आलोचना करते हैं, जिससे उनकी आलोचना केवल आलोचना नहीं, बल्कि साहित्यिक विमर्श बन जाती है।

वाजपेयी जी की आलोचना-शैली की विशेषताएँ:

वाजपेयी जी की आलोचना करने की शैली व्याख्यात्मक (यानि विस्तार से समझाने वाली) और विश्लेषणात्मक (यानि बारीकी से जाँचने वाली) है। उनकी आलोचना की कुछ खास बातें इस प्रकार हैं:

1. बिंदुवार और क्रमबद्ध विश्लेषण

जब वे किसी साहित्यिक रचना की विशेषताओं को बताते हैं, तो उन्हें एक क्रम में बिंदुवार (जैसे-एक, दो, तीन...) तरीके से समझाते हैं। वे शुक्ल जी की तरह किसी एक बात को सूत्र बनाकर उस पर विस्तार से चर्चा नहीं करते, बल्कि अलग-अलग बातों को क्रम से स्पष्ट करते हैं।

2. तुलनात्मक दृष्टिकोण

वे रचना को अच्छी तरह समझाने के लिए उसकी तुलना दूसरी प्रसिद्ध रचनाओं से करते हैं। जैसे-'साकेत' की आधुनिकता पर चर्चा करते हुए उसकी तुलना 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र' और 'रामचरितमानस' से करते हैं, जिससे पाठक को गहराई से समझ मिलती है।

3. भावनात्मक जुड़ाव

कई बार वे किसी रचना में इतना डूब जाते हैं कि भावनात्मक हो उठते हैं। ऐसे समय पर उनकी आलोचना में प्रभाववादी शैली झलकने लगती है। उदाहरण के तौर पर, सूरदास की रचनाओं पर लिखते समय वे भावविभोर हो जाते हैं। हालांकि, ऐसा बहुत कम होता है।

4. पश्नों के माध्यम से आलोचना

कुछ स्थानों पर वे भावनाओं में बहकर लगातार प्रश्न पूछते हैं, जिससे आलोचना में एक विशेष प्रभाव आता है। उदाहरण के लिए, 'शेखर: एक जीवनी' की समीक्षा में वे लिखते हैं: ''अब वह राशि और भी असहाय हो गई, लेकिन शेखर को और अधिक शक्ति मिली। क्या यह शक्ति संस्कारों के लिए थी? समाधान के लिए? शांति के लिए? नहीं, यह आत्म-वंचना, दुख से संतुष्टि, और अहंकार की पूर्ति के लिए थी।''

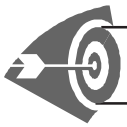


6.5 सारांश

नंददुलारे वाजपेयी की आलोचना दृष्टि हिंदी साहित्य को केवल सराहने या निंदा करने का माध्यम नहीं थी, बल्कि साहित्य को समझने, समाज से जोड़ने और उसके मूल्यांकन की एक विवेकपूर्ण प्रक्रिया थी। उन्होंने आलोचना को एक गंभीर बौद्धिक अनुशासन के रूप में प्रतिष्ठित किया, जिसमें ऐतिहासिकता, सामाजिकता,सैद्धांतिकता और संवेदनशीलता सभी समाहित थे।

उनकी आलोचना दृष्टि आज भी प्रासंगिक है, विशेषत: उस समय जब साहित्य को तेजी से बाजारवाद और तात्कालिक लोकप्रियता के हवाले किया जा रहा है। वाजपेयी जी की विचारधारा साहित्य को उसकी गहराई, उद्देश्य और सामाजिक चेतना के साथ देखने की प्रेरणा देती है।

अत: नंददुलारे वाजपेयी हिंदी साहित्य के एक ऐसे आलोचक हैं, जिन्होंने न केवल आलोचना को नया दृष्टिकोण दिया, बल्कि साहित्य को समाज के व्यापक सरोकारों से जोड़ने का मार्ग भी प्रशस्त किया।



6.6 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

प्रश्न संख्या 1. का उत्तर : नंददुलारे वाजपेयी एक गंभीर विचारशील, समन्वयवादी आलोचक थे।

प्रश्न संख्या 2. का उत्तर : हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, समीक्षा के आधार,आलोचना : स्वरुप और सीमा, कविता और समय, छायावाद।

पश्न संख्या 3. का उत्तर : सन् 1906

प्रश्न संख्या 4. का उत्तर : नंददुलारे वाजपेयी

प्रश्न संख्या 5. का उत्तर के लिए इकाई को पढ़िए।



6.7 अधिक जानने के लिए पढ़े

- वाजपेयी,डॉ. नंददुलारे, हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, 1957, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
- वाजपेयी,डॉ. नंददुलारे, काव्य की भूमिका,1961, लोकभारती प्रकाशन,

प्रयागराज

- वाजपेयी,डॉ. नंददुलारे, साहित्य और समीक्षा, 1965लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज
- वाजपेयी,डॉ. नंददुलारे, छायावाद, 1950, साहित्य भवन, प्रयागराज
- मदान, इंद्रनाथ, आधुनिकता और हिंदी आलोचना, 1975, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
- शर्मा, रामाधार(सं), आचार्य नंददुलारे वाजपेयी- व्यक्ति और साहित्य, अनुसन्धान प्रकाशन, कानपुर।
- मिश्र, डॉ. शिवकुमार, आलोचना के प्रगतशील आयाम, 1987, पंचशील प्रकाशन,
- सिंह,नामवर, वाद-विवाद संवाद, राजकमल प्रकाशन, 1990
- दीक्षित, आनंद प्रकश, आलोचना प्रकिया और स्वरूप, नेशनल पब्लिशिंगहॉउस, 1976
- मधुरेश, हिंदी आलोचना का विकास सुमित प्रकाशन, इलाहबाद, 2015
- त्रिपाठी,विश्वनाथ, हिंदी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, 2021

6.8 अभ्यास प्रश्न

क) संक्षिप्त प्रशों के उत्तर दीजिए

1. नंददुलारे वाजपेयी की आलोचना दृष्टि की मुख्य विशेषता क्या थी?
2. नंददुलारे वाजपेयी जी की प्रसिद्ध पुस्तक ''हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'' का उद्देश्य क्या था?
3. नंददुलारे वाजपेयी जी किस प्रमुख विश्वविद्यालय में हिंदी विभागाध्यक्ष के रूप में कार्यरत थे?
4. नंददुलारे वाजपेयी की दो आलोचनात्मक पुस्तक का नाम लिखिए।
5. 'काव्य की भूमिका' के रचनाकार कौन है?

ख) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखिए

1. नंददुलारे वाजपेयी की आलोचना दृष्टि में ऐतिहासिकता और वस्तुनिष्ठता का क्या महत्व है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
2. नंददुलारे वाजपेयी की प्रमुख आलोचनात्मक कृतियों का परिचय देते हुए

उनके योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

3. साहित्य और समाज के संबंध को लेकर नंददुलारे वाजपेयी के दृष्टिकोण का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।
4. नंददुलारे वाजपेयी के साहित्य में निहित 'साहित्य और समाज के संबंध' को अपने शब्दों में स्पष्ट कीजिए।
5. वाजपेयी जी की आलोचनात्म समीक्षा की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

******

इकाई 7 : रामविलास शर्मा की आलोचनात्मक दृष्टि

इकाई की रूपरेखा

7.1 उद्देश्य

7.2 प्रस्तावना

7.3 रामविलास शर्मा का सामान्य परिचय

7.4 रामविलास शर्मा की आलोचना दृष्टि के विधायी तत्व

7.5 रामविलास शर्मा आलोचनात्मक दृष्टि का स्वरूप

7.6 रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि का महत्त्व

7.7 सारांश

7.8 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

7.9 अधिक जानने के लिए पढ़े

7.10 अभ्यास पश्न

7.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप

- उनके जीवन और साहित्य के बारे में जान प्राप्त होगा।
- रामविलास शर्मा की आलोचना संबंधित दृष्टिकोणों को समझेंगे।
- उनकी आलोचना दृष्टि के विधायी तत्व से अवगत हो सकेंगे।
- उनके आलोचना के महत्व को समझ पाएंगे।
- उनके आलोचन के सूक्ष्म से सूक्ष्म चीजों से अवगत होंगे।
- हिंदी साहित्य के विकास में उनके योगदान को समझने में सक्षम हो सकेंगे।

7.2 प्रस्तावना

हिंदी आलोचना के क्षेत्र में रामविलास शर्मा का नाम एक मौलिक, प्रगतिशील और विचारशील आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित है। उन्होंने साहित्य को केवल सौंदर्य का माध्यम नहीं माना, बल्कि सामाजिक यथार्थ, इतिहासबोध और वर्गचेतना से जुड़ा एक सशक्त उपकरण माना। उनकी आलोचना दृष्टि मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित थी, जिसमें समाज, संस्कृति, भाषा और इतिहास

का गहन विश्लेषण मिलता है। वे आलोचना को एक जिम्मेदार बौद्धिक कार्य मानते थे, जिसका उद्देश्य पाठक को साहित्यिक कृति के सामाजिक और वैचारिक संदर्भों से परिचित कराना है।

रामविलास शर्मा हिन्दी साहित्य के एक ऐसे विलक्षण चिंतक, विद्वान और आलोचक थे, जिन्होंने अपने गहन अध्ययन, व्यापक दृष्टिकोण और राष्ट्रनिष्ठ चिंतन के माध्यम से न केवल हिन्दी साहित्य को नई दिशा दी, बल्कि भारतीय संस्कृति, समाज और शिक्षा को भी एक समृद्ध वैचारिक धरातल प्रदान किया। वे हिन्दी आलोचना के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित हैं और उन्हें आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में एक प्रभावशाली मार्गदर्शक के रूप में देखा जाता है। उनका ज्ञान सीमित दायरे में नहीं था। भारतीय दर्शन की जटिलताओं से लेकर पाश्चात्य विचारधाराओं की गहराइयों तक और संस्कृत, अपभ्रंश, अवधी, ब्रज जैसी भाषाओं के माध्यम से व्यक्त प्राचीन साहित्य से लेकर समकालीन साहित्य तक उनका अध्ययन अत्यंत व्यापक था। यही कारण है कि उन्होंने कालिदास, भवभूति जैसे संस्कृत साहित्य के दिग्गज रचनाकारों से लेकर कबीर, जायसी, तुलसी और सूरदास जैसे मध्यकालीन संत-कवियों तक का मूल्यांकन एक आधुनिक दृष्टिकोण से किया। उन्होंने इन रचनाकारों को केवल साहित्यिक संदर्भों में नहीं देखा, बल्कि उन्हें उनके समय, समाज और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में समझने की कोशिश की। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि ये कवि भारतीय समाज की चेतना को किस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं और आधुनिकता की कसौटी पर भी कितने प्रासंगिक हैं।

रामविलास शर्मा ने भाषा और साहित्य के संबंध में भारतीय परंपरा और आधुनिक बौद्धिक विचारों के बीच सेतु का कार्य किया। उनकी दृष्टि में साहित्यकार का सामाजिक उत्तरदायित्व महत्वपूर्ण था। उन्होंने निराला, भारतेंदु, प्रेमचंद, तुलसीदास आदि रचनाकारों के साहित्य को नए परिप्रेक्ष्य में पढ़ने की दिशा प्रदान की। उनकी आलोचना में भारतीयता, लोकसंस्कृति, राष्ट्रवाद, और इतिहास चेतना का समावेश स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। अत: रामविलास शर्मा की आलोचना दृष्टि न केवल साहित्य को समझने का माध्यम है, बल्कि सामाजिक परिवर्तन और वैचारिक संघर्ष की दिशा भी प्रस्तुत करती है।

7.3 रामविलास शर्मा का सामान्य परिचय

रामविलास शर्मा हिंदी साहित्य के प्रमुख आलोचक, भाषाविद, निबंधकार

और चिंतक थे, जिन्होंने साहित्य को सामाजिक, ऐतिहासिक और वैचारिक दृष्टिकोण से देखने की नई दिशा दी। उनका जन्म 10 अक्टूबर सन् 1912 को उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के ग्राम शिवपुरी में हुआ था। उन्होंने प्रारंभिक शिक्षा ग्रामीण परिवेश में प्राप्त की और आगे की पढ़ाई लखनऊ विश्वविद्यालय से की। वे अंग्रेज़ी साहित्य में विशेषज्ञ थे, लेकिन उनका झुकाव भारतीय संस्कृति, हिंदी भाषा और साहित्य की ओर रहा। रामविलास शर्मा मूलत: अंग्रेज़ी के प्रोफेसर थे और अंग्रेज़ी भाषा पर उनकी गहरी पकड़ थी। यदि वे चाहते, तो अंग्रेज़ी में लेखन कर अंतराष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त कर सकते थे। परंतु उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम चुना और आजीवन हिन्दी में ही लेखन किया। यह निर्णय उनके राष्ट्रप्रेम, भारतीयता और भाषायी अस्मिता के प्रति गहरी निष्ठा को दर्शाता है। उनका मानना था कि यदि भारतीय भाषाओं को सम्मान और प्रगति का अवसर नहीं मिलेगा, तो भारत की सांस्कृतिक स्वतंत्रता अधूरी रह जाएगी। इसलिए उन्होंने हिन्दी को केवल एक भाषा नहीं, बल्कि सांस्कृतिक स्वाभिमान के रूप में देखा।

रामविलास शर्मा की विचारधारा मूलत: मार्क्सवादी थी, परंतु उन्होंने भारतीय परंपरा और सांस्कृतिक मूल्यों को नकारा नहीं। उन्होंने भारतीय साहित्य को यूरोपीय ढांचे में बाँधने की प्रवृत्तियों का विरोध किया और स्वदेशी दृष्टिकोण को आलोचना का आधार बनाया। उन्होंने आलोचना को केवल सौंदर्यबोध का माध्यम नहीं माना, बल्कि इसे सामाजिक चेतना, वर्गचेतना और जनपक्षधरता का वाहक बनाया।

उनकी आलोचना में भाषा, इतिहास और संस्कृति का त्रैतीय समन्वय देखने को मिलता है। उनकी आलोचना में भाषा, इतिहास और संस्कृति का त्रैतीय समन्वय देखने को मिलता है। उनके चिंतन की धाराएं अत्यंत विविध और बहुआयामी थीं। उन्होंने भाषा, साहित्य, समाज, संस्कृति, इतिहास, दर्शन, राजनीति और शिक्षा–इन सभी विषयों पर गहराई से विचार किया। उनका लेखन केवल आलोचना तक सीमित नहीं था, बल्कि उसमें समाज परिवर्तन की चेतना और राष्ट्रीय पुनर्जागरण की प्रेरणा भी निहित थी। हिन्दी नवजागरण के संदर्भ में उन्होंने भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद आदि साहित्यकारों की भूमिका का भी विश्लेषण किया और इसे भारतीय समाज के बौद्धिक विकास से जोड़ा। रामविलास शर्मा ने हिन्दी साहित्य को केवल सौंदर्य की दृष्टि से नहीं देखा, बल्कि उसे भारतीय समाज के यथार्थ और परिवर्तन की प्रक्रिया का अभिन्न अंग माना। उनके लेखन में गहन तर्क, इतिहासबोध और

सांस्कृतिक दृष्टि का मेल दिखाई देता है। वे भाषा के सामाजिक पक्ष को भी उतना ही महत्व देते थे जितना साहित्यिक पक्ष को।

रामविलास शर्मा एक कुशल भाषाविद् भी थे। उन्होंने हिंदी भाषा के विकास, व्याकरण, लिपि और शैली पर अनेक शोधपूर्ण लेखन कार्य किए। उनकी कृति 'भारतीय पुनर्जागरण और यूरोप','निराला की साहित्य साधना','भारतेंदु युग और हिंदी भाषा',और 'भारतीय भाषाओं का प्रश्न' आज भी हिंदी आलोचना के मील के पत्थर मानी जाती हैं। उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया और अनेक छात्रों को प्रेरित किया। वे एक निर्भीक वक्ता, गहन चिंतक और स्पष्टवादी आलोचक थे।

रामविलास शर्मा का निधन 30 मई सन् 2000 को हुआ, परंतु उनके विचार और रचनाएँ आज भी हिंदी साहित्य में एक सशक्त विचारधारा के रूप में जीवित हैं। उनका संपूर्ण साहित्य हमें यह सिखाता है कि साहित्य समाज से जुड़ा हुआ एक सक्रिय संवाद है और आलोचक उसकी दिशा को सही रूप में सामने लाने वाला पथप्रदर्शक।

कृतित्व :

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी (1906–1967) का स्थान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद की पीढ़ी के प्रमुख आलोचकों में आता है। वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में शुक्ल जी के शिष्य भी रहे। वाजपेयी जी को छायावाद को साहित्यिक मान्यता दिलाने और उसे स्थापित करने के लिए विशेष रूप से जाना जाता है। उन्होंने छायावादी काव्यधारा के समर्थन में जिस प्रकार से लेखन किया, उसके कारण कई बार उन्हें 'स्वच्छंदतावादी आलोचक' भी कहा गया। छायावाद के संदर्भ में 'वृहत्त्रयी' (निराला, पंत और प्रसाद) की संकल्पना सबसे पहले उन्होंने ही प्रस्तुत की, जो बाद में अत्यंत लोकप्रिय हुई।

लगभग चार दशकों तक सक्रिय आलोचना कर्म में संलग्न रहते हुए उन्होंने न केवल छायावाद बल्कि प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता जैसे आंदोलनों पर भी महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ कीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने सूरसागर, रामचरितमानस जैसे ग्रंथों का सम्पादन किया और प्रेमचंद, निराला, पंत सहित अनेक रचनाकारों तथा रस सिद्धांत जैसे जटिल विषयों पर भी लेखन किया। उनके आलोचनात्मक निबंधों में समकालीन साहित्यिक विचारधाराओं और रचनाकारों पर गहन

समीक्षा मिलती है, जिन्हें बाद में विभिन्न पुस्तकों मैं संकलित किया गया।

उनकी प्रमुख कृतियों में हिंदी साहित्य: बीसवीं शताब्दी(1942), आधुनिक साहित्य(1950), सूरदास(1953), प्रेमचंद: एक साहित्यिक विवेचन(1953, छात्रोपयोगी), नया साहित्य: नए प्रश्न(1955), राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ (1961), कवि निराला(1965) और उनके निधन के बाद प्रकाशित कवि सुमित्रानंदन पंत (1997), रस सिद्धांत: नए संदर्भ(1997) तथा नई कविता (1997) उल्लेखनीय हैं। वाजपेयी जी का प्रथम आलोचनात्मक लेख 'सत्समालोचना' 1928 में 'माधुरी' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था।

7.4 रामविलास शर्मा की आलोचना दृष्टि के विधायी तत्व

डॉ. रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि को सही ढंग से समझने के लिए उसके विधायी तत्वों की सम्यक समझ आवश्यक है। ये वे केंद्रीय तत्त्व हैं जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में उनकी आलोचना दृष्टि को आकार देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन्हीं तत्वों के संतुलित प्रयोग से उन्होंने अपनी आलोचना-प्रणाली को विस्तार प्रदान किया है।

क) प्रगतिशील मार्क्सवादी विचारधारा

ख) 1857 का पहला स्वतंत्रता संग्राम

ग) हिन्दी जाति की वास्तविक पहचान

घ) नवजागरण की सुस्पष्ट अवधारणा

क) प्रगतिशील मार्क्सवादी विचारधारा :

डॉ. रामविलास शर्मा हिंदी के प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक थे, जिन्होंने मार्क्सवाद की व्याख्या एक प्रगतिशील, वैज्ञानिक और मानवीय दृष्टिकोण से की। वे मार्क्सवाद से प्रभावित जरूर थे, लेकिन उसकी संकीर्णता और कट्टरता के पक्षधर नहीं थे। उनका मानना था कि समाज को समझने और बदलने की एक वैज्ञानिक पद्धति का नाम मार्क्सवाद है। उन्होंने चेतना और विचार को मस्तिष्क की उपज बताया और मार्क्स के विचारों की यांत्रिक व्याख्या का विरोध किया। उन्होंने समयानुसार मार्क्सवादी सिद्धांतों में संशोधन करते हुए इसे एक सजीव और विकासशील दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया। इसी कारण वे अन्य कट्टर मार्क्सवादियों से अलग माने जाते हैं। वे मार्क्सवाद को एक

क्रांतिकारी दृष्टिकोण मानते थे, जो समाज में बदलाव लाने की वैज्ञानिक पद्धति प्रस्तुत करता है। इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है–

''वैज्ञानिक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य प्रकृति की उपज है और उसकी चेतना तथा विचार, मस्तिष्क की देन हैं। मस्तिष्क के बिना विचार की कल्पना करना असंभव है। चेतना, भौतिक शरीर की विशेषता है–उदाहरणस्वरूप, मस्तिष्क पर चोट लगने से स्मृति लोप हो जाना एक सामान्य बात है।''

डॉ. शर्मा के अनुसार, साहित्य का उद्देश्य समाज और व्यक्ति के विकास में सहायक होना चाहिए, न कि केवल मनोरंजन या मुनाफा। वे मानते थे कि केवल प्रगतिशील विचार होने से साहित्य श्रेष्ठ नहीं बनता, बल्कि उसमें भावनात्मक गहराई और सामाजिक प्रतिबद्धता भी आवश्यक है। उनके अनुसार, प्रभावी साहित्य वही है जो समाज की गतिविधियों से जुड़कर सामाजिक परिवर्तन में योगदान दे। उन्होंने साहित्य को समाज को समझने और बदलने का एक वैज्ञानिक साधन माना, विशेषकर सामंतवाद और साम्राज्यवाद के विरोध और समाजवाद की स्थापना के संदर्भ में। रामविलास शर्मा साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम मानते थे और मार्क्सवाद को उसकी वैज्ञानिक आधारशिला।

ख)1857 का पहला स्वतंत्रता संग्राम :

डॉ. रामविलास शर्मा के लेखन में 1857 की स्वाधीनता क्रान्ति का अत्यधिक महत्व है। यह क्रांति उनके साहित्यिक चिंतन और मूल्यांकन की केन्द्रीय धुरी बनी रही। वे जीवन भर अपने आलोचनात्मक लेखन में इससे प्रेरणा लेते रहे। उनके साहित्यालोचन को सही रूप में समझने के लिए 1857 की क्रांति को ध्यान में रखना अनिवार्य है; इसे उपेक्षित कर उनकी आलोचना–दृष्टि को समझा नहीं जा सकता। डॉ. शर्मा के अनुसार, 1857 की लड़ाई केवल एक स्वतंत्रता संग्राम नहीं थी, बल्कि वह एक क्रांति भी थी। उनके अनुसार, ''क्रांति सत्य की सच्ची पुकार है, यह न्याय का वास्तविक रूप है, यह न्याय तक पहुँचने का निष्कलंक मार्ग है, और क्रांति ही सामाजिक जीवन को स्वस्थ करने का उपाय है।'' इस दृष्टिकोण से सन् 1857 का पहला स्वाधीनता संग्राम एक ऐसी प्रगतिशील क्रांति था, जिसका उद्देश्य सत्य और न्याय के आधार पर एक शोषणमुक्त और समतामूलक समाज की स्थापना करना था।

रामविलास जी ने 1857 की क्रान्ति के मूल्यांकन द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि यह क्रान्ति एक प्रगतिशील जनआन्दोलन थी, जिसकी स्मृति

आज भी भारत में राष्ट्रीय एकता और साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना को सशक्त करने के लिए आवश्यक है। उनका 1857 के स्वाधीनता संग्राम पर किया गया चिन्तन न केवल विस्तृत ऐतिहासिक प्रमाणों पर आधारित है, बल्कि उसमें गहन ऐतिहासिक दृष्टिकोण और सामाजिक चेतना की झलक भी मिलती है, जो उन्हें अन्य मार्क्सवादी विचारकों और इतिहासकारों से अलग बनाती है। उन्होंने 1857 की क्रान्ति को केवल अवध के सम्मान के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसे भारत में राष्ट्रीय जागरण की एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्थापित किया। डॉ. शर्मा की इस क्रान्ति के प्रति गहरी भावनात्मक निष्ठा भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

ग) हिन्दी जाति की वास्तविक पहचान

हिन्दी जाति की अवधारणा डॉ. रामविलास शर्मा की एक महत्वपूर्ण स्थापना है। उनकी इस अवधारणा में 'जाति' शब्द का प्रयोग वर्ण व्यवस्था से जुड़ी जाति-बिरादरी के लिए नहीं, बल्कि 'राष्ट्रीयता' के अर्थ में किया गया है। 'निराला की साहित्य साधना' के द्वितीय खंड में वे 'जाति' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं-''भारत में अनेक भाषाएं बोली जाती हैं, जिनके अपने-अपने क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में रहने वाले लोगों को 'जाति' की संज्ञा दी जाती है। यह जाति वर्ण व्यवस्था की जाति-पाँत से सर्वथा भिन्न है। किसी भाषा को बोलने वाले तथा उस भाषा क्षेत्र में निवास करने वाले समुदाय को 'जाति' कहा गया है।'' इसी प्रकार, 'परंपरा का मूल्यांकन' में भी वे स्पष्ट करते हैं-''हिन्दी, बांग्ला, मराठी, तमिल आदि भाषाएं बोलने वाले समुदायों को जाति कहा जाता है। प्रत्येक जाति, आधुनिक पूंजीवादी आर्थिक संबंधों के विकास की उपज है।''

डॉ. रामविलास शर्मा ने विशेष रूप से हिन्दी भाषी समुदाय का गहन अध्ययन और विश्लेषण किया है। उनका मानना है कि जैसे अन्य भाषा-भाषियों की अपनी जातियाँ हैं, वैसे ही हिन्दी भाषियों की भी एक जाति है। अवधी, ब्रज,भोजपुरी, मगही, बुंदेली, राजस्थानी आदि क्षेत्रीय बोलियों के मध्य अन्तरजनपदीय स्तर पर हिन्दी की केंद्रीय भूमिका को देखते हुए उन्होंने 'हिन्दी जाति' की अवधारणा प्रस्तुत की, ताकि इन बोलियों को बोलने वाले लोग क्षेत्रीय भिन्नताओं से ऊपर उठकर हिन्दी को अपनी जातीय भाषा के रूप में स्वीकार कर सकें। रामविलास जी की 'हिन्दी जाति' संबंधी अवधारणा जातीय चेतना, भाषा और साहित्य पर आधारित एक मौलिक विचार है। उनकी मुख्य चिंता यह है कि हिन्दी प्रदेश की जातीय चेतना ऊर्ध्वमुखी हो। उनका

मानना है कि हिन्दी भाषा और साहित्य में जितनी अधिक जातीय चेतना होगी, राष्ट्र उतना ही अधिक सुदृढ़ बनेगा। यह लक्ष्य तभी प्राप्त किया जा सकता है जब हिन्दी भाषी लोग अपनी जातीय भाषा औरसाहित्य के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पक्षों से भली-भाँति परिचित हों।

घ) नवजागरण की सुस्पष्ट अवधारणा

डॉ. रामविलास शर्मा की नवजागरण संबंधी अवधारणा अत्यंत महत्वपूर्ण है और भारतीय अध्ययन पद्धति तथा सांस्कृतिक परिवेश में इसका विशेष स्थान है। इस अवधारणा के निर्माण में उनकी सुदृढ़ सांस्कृतिक चेतना तथा विकसित होती हुई भारतीय परंपरा की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। रामविलास जी ने 'नवजागरण' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अपनी पुस्तक महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण (प्रकाशन वर्ष 1977) में किया। इसके पश्चात यह शब्द उनके लेखन में बार-बार प्रयुक्त होता रहा।

इस विषय पर चिंतन करते हुए उन्होंने अनुभव किया कि भारतीय ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परंपरा में ऐसे कई युग हैं जिन्हें नवजागरण की कोटि में रखा जा सकता है। वे नवजागरण की अवधारणा को लेकर एक विस्तृत बौद्धिक यात्रा पर निकलते हैं और भारतीय संस्कृति की विकासशील परंपरा में नवजागरण के चार प्रमुख चरणों की पहचान करते हैं। उनके अनुसार पहला नवजागरण ऋग्वैदिक काल में दूसरा औपनिषदिक काल में, तीसरा भक्तिकाल में तथा चौथा नवजागरण उन्नीसवीं सदी में घटित हुआ।

रामविलास शर्मा का नवजागरण सम्बन्धी चिन्तन हमारी सांस्कृतिक चेतना और परम्परा से समृद्ध हिन्दी साहित्य को उनकी एक मौलिक और मूल्यवान देन के रूप में प्राप्त हुआ है। उनका यह मानना था कि जातीय चेतना के विकास के लिए सांस्कृतिक ज्ञान आवश्यक है, और संस्कृति को समझने के लिए इतिहास का बोध अनिवार्य है। उनके अनुसार भारतीय जनमानस के समग्र उत्थान में उसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्पराएँ प्रेरक शक्ति का कार्य कर सकती हैं। इसी दृष्टिकोण के तहत उन्होंने भारतीय ऐतिहासिक परम्परा के अंतर्गत नवजागरण के विभिन्न चरणों का विस्तार से विश्लेषण किया। डॉ. शर्मा ने भारतीय संस्कृति की प्रारंभिक अवस्था से नवजागरण की विकास यात्रा को देखा और हिन्दी आलोचना में एक दृष्टिवान विचारक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की।

7.5 रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि का स्वरूप

रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि हिंदी आलोचना के इतिहास में एक युगांतरकारी मोड़ लेकर आई। उन्होंने आलोचना को न तो केवल सौंदर्यशास्त्र तक सीमित रखा और न ही उसे कोरे सैद्धांतिक विमर्श का शिकार बनने दिया। उनकी दृष्टि स्पष्ट रूप से मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित थी, लेकिन यह विचारधारा किसी जड़ या रूढ़ ढांचे में बंद नहीं थी। उन्होंने इसे भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ से जोड़कर व्यवहार में लाया।

रामविलास जी मानते थे कि साहित्य किसी शून्य में उत्पन्न नहीं होता, बल्कि वह समाज, समय और परिस्थितियों का प्रतिबिंब होता है। साहित्यकार केवल कल्पनाओं में विचरण करने वाला प्राणी नहीं, बल्कि समाज का सजग प्रहरी होता है, जिसे अपने युग की सच्चाइयों को पहचानना और प्रकट करना होता है। इसी विचार को केंद्र में रखते हुए उन्होंने आलोचना को विचारधारात्मक, ऐतिहासिक, भाषिक और सांस्कृतिक विमर्श से जोड़ा।

उनकी आलोचना-दृष्टि की कुछ प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं :

1. ऐतिहासिक दृष्टिकोण

रामविलास शर्मा साहित्य की व्याख्या ऐतिहासिक संदर्भों में करते थे। उनका यह मानना था कि किसी भी साहित्यिक रचना को उसके युग, परिस्थिति और सामाजिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ही सही ढंग से समझा जा सकता है। उन्होंने 'निराला की साहित्य साधना' जैसे ग्रंथों में निराला की रचनाओं को उनके समय की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक हलचलों से जोड़कर विवेचित किया। उनके अनुसार निराला न केवल एक कवि थे, बल्कि अपने युग के विद्रोही और समाज-सचेत रचनाकार भी थे।

2. जनपक्षधरता

रामविलास जी की आलोचना मूलत: जनपक्षधर थी। उन्होंने हमेशा साहित्य को जनता के संघर्ष, पीड़ा, सपनों और आकांक्षाओं से जोड़ा। वे मानते थे कि साहित्य की सार्थकता तभी है जब वह जनता के पक्ष में खड़ा हो। इस दृष्टि से उन्होंने तुलसी, कबीर, सूरदास, भारतेंदु, प्रेमचंद और निराला जैसे रचनाकारों को जनकवि कहा। उनके अनुसार ये लेखक अपने युग की सामाजिक चेतना को आगे बढ़ाते हैं और जनता की आवाज़ को स्वर देते हैं।

3. भारतीय परंपरा का सम्मान

यद्यपि रामविलास शर्मा आधुनिक और मार्क्सवादी आलोचक थे, फिर भी उन्होंने भारतीय सांस्कृतिक परंपरा को कभी नकारा नहीं। वे भारतीय ज्ञान परंपरा, धार्मिक चेतना और लोकसंस्कृति को साहित्यिक मूल्यों के रूप में स्वीकार करते थे। उन्होंने तुलसीदास, कबीर और भक्तिकालीन कवियों के साहित्य को जनसंस्कृति और सामाजिक चेतना का वाहक बताया। उनके अनुसार इन रचनाकारों ने अपने समय में सामाजिक समरसता, लोकधर्म और संघर्षशीलता को स्वर दिया।

4. भाषा और संस्कृति का समन्वय

रामविलास शर्मा केवल साहित्य आलोचक ही नहीं, एक कुशल भाषाविद और संस्कृति चिंतक भी थे। उन्होंने भाषा को केवल संवाद या अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं, बल्कि संस्कृति, समाज और इतिहास का संवाहक माना। वे हिंदी भाषा के विकास, वैज्ञानिक स्वरूप और सामाजिक प्रयोजनों पर विशेष बल देते थे। उन्होंने 'भारतीय भाषाओं का प्रश्न' तथा 'भारतेंदु युग और हिंदी भाषा' जैसी कृतियों में भाषा और संस्कृति के अंतर्संबंधों को स्पष्ट किया।

उनका मानना था कि भाषा केवल लेखन या बोलने का माध्यम नहीं, बल्कि वह एक वैचारिक संरचना है, जो समाज की चेतना को प्रभावित करती है। इसलिए उन्होंने विदेशी भाषा और संस्कृति के अंधानुकरण का विरोध करते हुए हिंदी की स्वाभाविक, वैज्ञानिक और जनतांत्रिक भूमिका को सामने रखा।

रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि भारतीय साहित्य-चिंतन को एक नई दिशा देने वाली दृष्टि है। उनके चिंतन का मूल स्वर सामर्थ्यवान जनचेतना, भाषा का वैज्ञानिक विवेचन और साहित्य का सामाजिक मूल्यांकन रहा है। वे आलोचना को केवल ग्रंथों की विवेचना नहीं, बल्कि एक बौद्धिक संघर्ष और सामाजिक हस्तक्षेप मानते थे, जिससे साहित्य की प्रासंगिकता और गहराई दोनों स्पष्ट होती है।



महत्वपूर्ण बिंदु-

रामविलास शर्मा हिंदी साहित्य में इसलिए महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उन्होंने साहित्य को समाज, इतिहास और विचारधारा से जोड़ने का कार्य किया। वे एक प्रगतिशील, जनपक्षधर और विचारशील आलोचक

थे, जिन्होंने आलोचना को बौद्धिक विमर्श और सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बनाया। उनकी कृतियाँ जैसे ''निराला की साहित्य साधना'' और ''भारतेंदु युग और हिंदी भाषा'' साहित्यिक विश्लेषण की दृष्टि से अत्यंत मूल्यवान हैं। उन्होंने हिंदी भाषा, संस्कृति और परंपरा को वैज्ञानिक तथा जनतांत्रिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया, जिससे वे आधुनिक हिंदी आलोचना के एक आधार स्तंभ बन गए।

7.6 रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि का महत्व

रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि हिंदी साहित्य में क्रांतिकारी परिवर्तन का प्रतीक मानी जाती है। उन्होंने आलोचना को केवल सौंदर्यशास्त्रीय या कलात्मक अभ्यास तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे सामाजिक परिवर्तन और वैचारिक जागरूकता का माध्यम बनाया। उनकी आलोचना दृष्टि में साहित्य को समाज, इतिहास, संस्कृति और वर्गचेतना के परिप्रेक्ष्य में देखने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

वे मानते थे कि आलोचना का उद्देश्य केवल साहित्यिक रचनाओं की प्रशंसा या निंदा करना नहीं, बल्कि रचना के भीतर छिपी चेतना, विचार और सामाजिक संदर्भों को सामने लाना है। उन्होंने साहित्यिक आलोचना को दार्शनिक जटिलताओं से मुक्त कर, उसे जनसामान्य के लिए बोधगम्य और उपयोगी बनाया। उनकी भाषा में विद्वत्ता के साथ-साथ स्पष्टता और सरलता थी, जिससे पाठक गहराई से साहित्य को समझने में सक्षम हो सके।

रामविलास शर्मा ने आलोचना को पाठक और साहित्य के बीच एक जीवंत संवाद के रूप में प्रस्तुत किया। उनकी आलोचना में गहन तर्क, ऐतिहासिक प्रमाण और सामाजिक संदर्भों का सुंदर समन्वय होता है। उन्होंने तुलसी, कबीर, निराला, भारतेंदु, प्रेमचंद आदि रचनाकारों के साहित्य को नए दृष्टिकोण से देखने की दृष्टि दी।

उनकी आलोचना ने साहित्य को केवल भावनात्मक या सौंदर्यात्मक नहीं, बल्कि वैचारिक, यथार्थपरक और जनोन्मुखी आयाम प्रदान किया। यही कारण है कि उनकी आलोचना दृष्टि आज भी हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों, अध्येताओं और पाठकों के लिए अत्यंत उपयोगी और प्रेरणादायक बनी हुई है।



अपनी प्रगति जाँचें

प्रश्न संख्या 1. रामविलास शर्मा का जन्म कब हुआ था?

प्रश्न संख्या 2. रामविलास शर्मा किस विचारधारा के समर्थक थे?

प्रश्न संख्या 3. 'निराला की साहित्यिक साधना' के रचनाकार कौन है?

प्रश्न संख्या 4. रामविलास शर्मा की किन्ही दो कृतियों का नाम उल्लेख कीजिए ।

प्रश्न संख्या 5. उनकी रचनाओं का मूल स्वर क्या है?



7.7 सारांश

रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि हिंदी साहित्य में एक नई बौद्धिक दिशा का सूत्रपात करती है। उन्होंने आलोचना को केवल काव्य सौंदर्य की व्याख्या तक सीमित न रखकर उसे समाज, संस्कृति, इतिहास और विचारधारा से जोड़कर देखा। उनकी आलोचना दृष्टि का आधार मार्क्सवादी विचारधारा था, परंतु उन्होंने उसे भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों में आत्मसात किया। उनके लिए साहित्य न केवल कल्पना का विषय था, बल्कि समाज की सच्चाइयों का प्रतिबिंब भी था।

रामविलास शर्मा ने हिंदी आलोचना को दार्शनिक जटिलताओं से मुक्त कर, उसे सहज, स्पष्ट और जनोन्मुखी बनाया। उन्होंने निराला, तुलसी, कबीर, भारतेंदु, प्रेमचंद जैसे रचनाकारों के साहित्य का मूल्यांकन ऐतिहासिक, सामाजिक और भाषिक संदर्भों में किया और उन्हें जनता के प्रतिनिधि रचनाकार के रूप में प्रस्तुत किया।

उनकी आलोचना में विचार की गहराई, विश्लेषण की सटीकता और भाषा की स्पष्टता का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है। उन्होंने यह सिद्ध किया कि आलोचना केवल पाठ का मूल्यांकन नहीं, बल्कि वह सामाजिक विमर्श और वैचारिक चेतना को विकसित करने का सशक्त माध्यम है।

निस्संदेह, रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि ने हिंदी साहित्य को न केवल एक नया आयाम दिया, बल्कि आलोचना को समाज परिवर्तन और वैचारिक संघर्ष का सशक्त उपकरण बना दिया। आज भी उनकी दृष्टि हिंदी

आलोचना में मार्गदर्शक के रूप में प्रतिष्ठित है।

इसे भी जान ले :

रामविलास शर्मा हिंदी साहित्य में इसलिए महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उन्होंने साहित्य को समाज, इतिहास और विचारधारा से जोड़ने का कार्य किया। वे एक प्रगतिशील, जनपक्षधर और विचारशील आलोचक थे, जिन्होंने आलोचना को बौद्धिक विमर्श और सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बनाया। उनकी कृतियाँ जैसे ''निराला की साहित्य साधना'' और ''भारतेंदु युग और हिंदी भाषा'' साहित्यिक विश्लेषण की दृष्टि से अत्यंत मूल्यवान हैं। उन्होंने हिंदी भाषा, संस्कृति और परंपरा को वैज्ञानिक तथा जनतांत्रिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया, जिससे वे आधुनिक हिंदी आलोचना के एक आधार स्तंभ बन गए।

7.8 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

प्रश्न संख्या 1. का उत्तर : जानने के लिए इकाई को ध्यान से पढ़ें।

प्रश्न संख्या 2. का उत्तर : जानने के लिए इकाई को ध्यान से पढ़ें।

प्रश्न संख्या 3. का उत्तर : रामविलास शर्मा।

प्रश्न संख्या 4. का उत्तर : सूरदास, नया साहित्य: नए पश्न।

प्रश्न संख्या 5. का उत्तर : जानने के लिए इकाई को ध्यान से पढ़ें।

7.9 अधिक जानने के लिए पढ़ें

- शर्मा, डॉ. रामविलास, प्रेमचन्द, सरस्वती प्रेस प्रकाशन,नई दिल्ली, 2011
- शर्मा, डॉ. रामविलास, भारतेन्दु युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,1943
- शर्मा, डॉ. रामविलास, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
- शर्मा, डॉ. चौधरी, निराला, जन प्रकाशन गृह, बम्बई, 1946

- शर्मा, डॉ. रामविलास,संस्कृति और साहित्य, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद,1948
- शर्मा, डॉ. रामविलास, प्रगति और परम्परा, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद,1948
- शर्मा, डॉ॔ रामविलास,, प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
- शर्मा, डॉ. रिचर्ड, भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,2014
- शर्मा, डॉ. रामविलास,, प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, विनोद पुस्तक मंदिर प्रकाशन, आगरा, 1954
- शर्मा, डॉ. रामविलास,, लोक जीवन और साहित्य, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1955

7.8 अभ्यास प्रश्न

क) निम्नलिखित पश्नों के संक्षिप्त उत्तर लिखिए

1. रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि का मूल आधार क्या था?
2. 'निराला की साहित्य साधना' पुस्तक में रामविलास शर्मा ने किस रचनाकार के काव्य का विश्लेषण किया है?
3. रामविलास शर्मा ने साहित्य को किससे जोड़कर देखा?
4. 'भारतेन्दु युग और हिंदी भाषा' के रचनाकार कौन है ?
5. रामविलास शर्मा के आलोचना दृष्टि में साहित्य में क्या समाहित होनी चाहिए?

ख) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखिए

1. रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि के प्रमुख लक्षणों की विवेचना कीजिए।
2. हिंदी आलोचना के क्षेत्र में रामविलास शर्मा के योगदान को समाज और इतिहास के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए।
3. रामविलास शर्मा की प्रमुख आलोचनात्मक कृतियों का परिचय देते हुए

उनकी आलोचना-दृष्टि का मूल्यांकन कीजिए।

4. रामविलास शर्मा की आलोचना दृष्टि के विधायी तत्वों पर एक आलेख प्रस्तुत कीजिए।
5. रामविलास शर्मा की आलोचना दृष्टि के महत्व को स्वीकार करते हुए एक आलेख तैयार कीजिए।

******

इकाई 8 : नामवर सिंह की आलोचनात्मक दृष्टि

इकाई की रूपरेखा

8.1 उद्देश्य

8.2 प्रस्तावना

8.3 नामवर सिंह का सामान्य परिचय

8.4 नामवर सिंह की कृतियों का मुल्यांकन

8.5 नामवर सिंह आलोचनात्मक दृष्टि

8.6 हिंदी आलोचना और नामवर सिंह का महत्व

8.7 सारांश

8.8 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

8.9 अधिक जानने के लिए पढ़ें

8.10 अभ्यास प्रश्न

8.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप

- उनके जीवन और साहित्य के बारे में जान पाएंगे।
- उनकी कृतियों में निहित विविध तत्वों को समझने में सक्षम होंगे।
- नामवर सिंह की आलोचना संबंधित दृष्टिकोणों से अवगत हो पाएंगे।
- उनके आलोचना के महत्व को समझ पाएंगे।
- उनके आलोचन के सूक्ष्म से सूक्ष्म चीजों से अवगत हो सकेंगे।
- आधुनिक हिंदी आलोचना के विकास में उनके योगदान को समझ सकेंगे।

8.2 प्रस्तावना

हिंदी आलोचना के क्षेत्र में नामवर सिंह एक युगप्रवर्तक व्यक्तित्व के रूप में स्थापित हैं। उनकी आलोचनात्मक दृष्टि ने हिंदी साहित्य को नई दृष्टि, नई ऊर्जा और वैचारिक गहराई प्रदान की। उन्होंने न केवल साहित्यिक मूल्यों की पुनर्व्याख्या की, बल्कि आलोचना को केवल साहित्यिक सौंदर्यबोध तक

सीमित न रखते हुए उसे समाज, इतिहास और विचारधारा के व्यापक संदर्भ में जोड़ने का कार्य किया। नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि मुख्यत: वैचारिक, समाजोन्मुख और मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रेरित रही है।

वे मानते थे कि साहित्य समाज से कटकर नहीं समझा जा सकता। उनकी आलोचना में विचार और सौंदर्य का संतुलन दिखाई देता है। 'कविता के नए प्रतिमान', 'आलोचना और विचारधारा', 'दूसरी परंपरा की खोज' जैसे उनके ग्रंथ हिंदी आलोचना के मील के पत्थर माने जाते हैं। उन्होंने न केवल नई कविता, बल्कि जनवादी और दलित साहित्य को भी गंभीर विमर्श में स्थान दिया।

नामवर सिंह ने आलोचना को वाग्जाल या शाब्दिक चातुर्य नहीं, बल्कि साहित्य और जीवन के बीच पुल की तरह देखा। वे एक कुशल संपादक, प्रेरक वक्ता और शिक्षाविद भी रहे, जिन्होंने ''छायान्वेषी'', ''जनयुग'' और ''सारिका'' जैसी पत्रिकाओं के माध्यम से साहित्यिक बहसों को दिशा दी।

इस प्रकार, नामवर सिंह का हिंदी साहित्य में योगदान बहुआयामी और दूरगामी प्रभाव वाला रहा है। उन्होंने आलोचना को एक गंभीर वैचारिक प्रक्रिया के रूप में स्थापित कर साहित्य को जनसरोकारों से जोड़ा और हिंदी आलोचना को उसकी गहराई, धार और व्यापकता प्रदान की।

8.3 नामवर सिंह का सामान्य परिचय

नामवर सिंह हिंदी साहित्य के प्रमुख आलोचक, चिंतक, लेखक और शिक्षाविद के रूप में विख्यात हैं। वे भारतीय साहित्यिक परंपरा में उस विरले वर्ग के विद्वानों में शामिल हैं जिन्होंने हिंदी आलोचना को एक सशक्त वैचारिक आधार और नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया। उनका जन्म 28 जुलाई 1926 को उत्तर प्रदेश के चंदौली जनपद के जीयनपुर गांव में हुआ था। उनके पिता एक सामान्य किसान थे, किंतु प्रारंभ से ही नामवर सिंह की रुचि पढ़ाई और साहित्य में रही।

उन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय से हिंदी साहित्य में एम.ए. तथा पीएच.डी. की उपाधियाँ प्राप्त कीं। उनका शोधप्रबंध प्रसिद्ध साहित्यकार 'हज़ारी प्रसाद द्विवेदी' पर केंद्रित था, जो आगे चलकर 'हजारी प्रसाद द्विवेदी : एक अध्ययन'

के नाम से प्रकाशित हुआ। शिक्षा के बाद उन्होंने विभिन्न विश्वविद्यालयों में अध्यापन किया और अंततः जे.एन.यू., नई दिल्ली के भारतीय भाषा केंद्र के अध्यक्ष पद पर कार्यरत रहे।

नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि गहन वैचारिकता, सामाजिक सरोकारों और ऐतिहासिक चेतना से परिपूर्ण रही है। वे आलोचना को केवल सौंदर्यबोध की दृष्टि से नहीं, बल्कि विचारधारा और सामाजिक यथार्थ के संदर्भ में भी परखने में विश्वास रखते थे। वे मार्क्सवादी दृष्टिकोण से साहित्य का मूल्यांकन करते हुए भी एकांगी दृष्टिकोण से बचे रहते थे। उन्होंने 'कविता के नए प्रतिमान', 'दूसरी परंपरा की खोज', 'आलोचना और विचारधारा', 'इतिहास और आलोचना' जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथों के माध्यम से हिंदी साहित्य को नई दिशा दी।

पत्रकारिता और संपादन के क्षेत्र में भी उनका योगदान उल्लेखनीय है। वे 'जनयुग', 'सारिका', 'आलोचना', और 'छायान्वेषी' जैसी पत्रिकाओं से जुड़े रहे। इन माध्यमों से उन्होंने हिंदी में गंभीर विमर्श को प्रेरित किया और कई युवा आलोचकों को दिशा दी।

उन्हें अनेक सम्मान प्राप्त हुए, जिनमें 'साहित्य अकादमी सम्मान', 'श्लाका सम्मान' और 'भारतीय ज्ञानपीठ' द्वारा प्रदत्त विभिन्न पुरस्कार उल्लेखनीय हैं।

नामवर सिंह न केवल एक आलोचक थे, बल्कि वे हिंदी साहित्य के विचारक, शिक्षक और मार्गदर्शक भी थे। उनका संपूर्ण जीवन साहित्य के प्रति समर्पित रहा। उनका निधन 28 फरवरी 2019 को हुआ, किंतु उनकी विचारशील लेखनी आज भी हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों, अध्येताओं और पाठकों के लिए प्रेरणा का स्रोत बनी हुई है।

8.4 नामवर सिंह की कृतियों का मुल्यांकन

डॉ.नामवर सिंह जी बहुचर्चित आधुनिक आलोचक है। एक ओर उनका लेखन बहुआयामी एवं प्रासंगिक है तो दूसरी ओर दिशा-निर्देशक भी है। नामवर सिंह की प्रमुख कृतियाँ और उनका मूल्यांकन निम्नलिखित हैं-

क) छायावाद :

डॉ. नामवर सिंह की पुस्तक 'छायावाद' छायावादी काव्यधारा पर एक महत्वपूर्ण और मौलिक आलोचना कृति है। इस पुस्तक में लेखक ने छायावाद

की सामान्य प्रवृत्तियों के साथ-साथ इसके चार प्रमुख कवियों-प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी वर्मा-की विशिष्टताओं को स्पष्ट किया है। डॉ. नामवर सिंह ने पूर्ववर्ती आलोचकों जैसे आचार्य शुक्ल, वाजपेयी और नगेन्द्र के विचारों की सीमाएं दिखाते हुए भी उनके आशय को स्पष्ट किया है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिखी गई यह कृति छायावाद को द्विवेदी युग की मात्र प्रतिक्रिया न मानकर, उसे हिन्दी साहित्य की परंपरा की एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्थापित करती है। जब छायावाद के प्रति उपेक्षा का भाव फैलाया जा रहा था, तब नामवर सिंह ने इसके सकारात्मक पक्षों को रेखांकित कर उसकी प्रगतिशील विरासत को रेखांकित किया। उनका मानना है कि छायावाद विभिन्न प्रवृत्तियों का समुच्चय है और इसे सामाजिक-साहित्यिक विकासक्रम में रखकर ही सही ढंग से समझा जा सकता है।इस प्रकार 'छायावाद' पुस्तक हिन्दी आलोचना में एक संतुलित, विवेकपूर्ण और गहराई से लिखी गई कृति है, जो छायावादी युग के मूल्यांकन में एक नया दृष्टिकोण प्रदान करती है।

ख) आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ :

इस ग्रन्थ में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद-ये चार प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं, जिन्हें इतिहास की कसौटी पर परखा जा सकता है और जो ''वाद'' के रूप में स्वीकार्य भी हो चुकी हैं।उनके अनुसार, छायावादी कविता में व्यक्ति की स्वतंत्रता की भावना मुख्य रूप से 'व्यक्तित्व की आत्माभिव्यक्ति' के रूप में सामने आई। पहले की हिन्दी कविता जहाँ वर्णनात्मक और नैतिक उपदेश प्रधान थी, वहीं छायावाद के समय वह अधिक भावनात्मक और आत्मकेंद्रित हो गई। डॉ. नामवर सिंह ने इस आत्माभिव्यक्ति को सामंती मूल्यों के विरुद्ध नवोदित मध्यवर्ग की जनवादी चेतना का प्रतीक माना है। उनका मानना है कि छायावादी कविता में पाया जाने वाला रहस्यवाद भी इसी आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा का परिणाम है-जिसमें आत्मा को अभिव्यक्त करने की एक गहरी आकांक्षा छिपी हुई है।

अपनी एक अन्य प्रसिद्ध कृति 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' में डॉ. नामवर सिंह ने हिन्दी साहित्य की प्रमुख धाराओं-छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद-का गहराई से विश्लेषण किया है। उन्होंने इन प्रवृत्तियों को केवल कलावादी रुझानों या भावुक धारणाओं के रूप में नहीं देखा, बल्कि इन्हें समाज

में फैली रूढ़ियों, अंधविश्वासों, व्यक्तिवादी संकीर्णताओं और जड़ मानसिकताओं के खिलाफ चल रहे वैचारिक संघर्ष के रूप में समझा। डॉ. नामवर सिंह का मानना था कि साहित्य मात्र सौंदर्य का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन का माध्यम भी होना चाहिए। इसलिए उन्होंने अपने आलोचना कर्म में रूढ़िवाद, कलावाद और अंधविश्वासों के विरुद्ध एक वैचारिक मोर्चा खड़ा किया। उन्होंने न केवल इन प्रवृत्तियों की व्यावहारिक आलोचना की, बल्कि वैकल्पिक विचारधाराओं की तलाश और स्थापना का कार्य भी किया।

ग) वाद-विवाद और संवाद :

'वाद, विवाद और संवाद' डॉ. नामवर सिंह की प्रसिद्ध पुस्तक 'इतिहास और आलोचना' की अगली कड़ी है। इसमें शामिल निबंध पहले प्रकाशित हो चुके हैं और चर्चा का विषय भी रहे हैं, इसलिए पुस्तक के रूप में इनका पुन: प्रकाशन अपेक्षित प्रभाव नहीं छोड़ सका। यह पुस्तक उनके विचारों का सार है।डॉ. नामवर सिंह के अनुसार, आलोचना मूलत: एक व्यक्तिगत प्रयास है, क्योंकि आलोचक की सच्ची प्रतिक्रिया व्यक्तिगत ही हो सकती है। इसलिए आलोचना का कोई स्थायी और निश्चित शास्त्र नहीं हो सकता। यदि कोई शास्त्र बन भी जाए, तो वह केवल साहित्य-शास्त्र होगा, आलोचना नहीं। तयशुदा शब्दावली आलोचना की जीवंतता खत्म कर देती है। अत: आलोचना पर किसी भी सिद्धांत, चाहे वह वैज्ञानिक मार्क्सवाद ही क्यों न हो, को थोपना उचित नहीं।

सच्चा आलोचक अपने अनुभव और विवेक की व्यक्तिगतता को बनाए रखते हुए आलोचना करता है, भले ही उसे पक्षपाती कहा जाए। जो आलोचक हमेशा सही रहने का दावा करते हैं, वे जोखिम नहीं उठाते और निष्पक्ष दिखते हैं। हालांकि, आलोचना में विचारधाराओं से मदद ली जा सकती है, लेकिन कृति से मुठभेड़ अकेले ही करनी होती है। डॉ. सिंह आलोचना को कोई मध्यस्थ या साहित्यिक एजेंट नहीं मानते। उनके अनुसार, रचनाकार, पाठक और आलोचक- सभी किसी एक सांस्कृतिक प्रक्रिया के हिस्से हैं। आलोचक किसी लेखक या पाठक के लिए नहीं, बल्कि अपने ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दायित्व के तहत लिखता है। उसका संघर्ष रचनाकार की तरह ही महत्वपूर्ण होता है, और उसका उद्देश्य सांस्कृतिक सपनों को स्पष्ट रूप देना होता।

घ) इतिहास और आलोचना :

'इतिहास और आलोचना' स्वतन्त्रता के बाद के पहले दशक में हिन्दी

साहित्य में प्रगतिशील मूल्यों की स्थापना के प्रयासों का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। यह पुस्तक शीतयुद्ध से उपजे विचारों की साहित्यिक मान्यताओं का तार्किक विरोध करती है और नए ऐतिहासिक दृष्टिकोण से साहित्य के मूल्यांकन की दिशा तय करती है। जनसामान्य के साहित्य को अक्सर यह कहकर खारिज किया जाता है कि उसमें गहराई नहीं होती, केवल विस्तार होता है। इस पर डॉ. नामवर सिंह ने सवाल उठाया कि क्या गहराई की यह कमी वास्तव में व्यापकता की ही कमी नहीं है? और यदि कोई रचना सीमित होते हुए भी गहरी लगती है, तो क्या यह हमारी समझ की सीमा का परिणाम नहीं? वे मानते हैं कि अनुभूति की गहराई को समझने के लिए उसकी व्यापकता को भी समझना आवश्यक है। जब कोई रचना व्यक्ति के पूरे अस्तित्व और भावों को लंबे समय तक प्रभावित करती है, तभी उसे गहराई मिलती है, और यह गहराई समय और स्थान की परिस्थितियों पर निर्भर होती है।

उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि व्यापकता केवल सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक विषयों तक सीमित नहीं है। प्रेम जैसे व्यक्तिगत विषयों में भी गहराई संभव है, बशर्ते उसे व्यापक जीवन-संदर्भों में प्रस्तुत किया जाए। उदाहरणस्वरूप उन्होंने 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'शेखर: एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' जैसे उपन्यासों की आलोचना की, क्योंकि उनमें प्रेम को संकीर्ण दायरे में प्रस्तुत किया गया है। डॉ. सिंह का तर्क है कि किसी भी विषय की वास्तविक गहराई तभी प्रकट होती है जब लेखक का जुड़ाव समाज की व्यापक संरचना और उसकी जटिलताओं से हो। गहराई व्यक्ति की अनुभूति को नकारने से नहीं, बल्कि उसे सामाजिक रिश्तों की व्यापकता में समझने से आती है। साहित्यकार अपने अनुभवों से शुरू होकर सामाजिक यथार्थ की जटिलता तक पहुंचता है, और वहीं से साहित्य में असली गहराई पैदा होती है।

ङ) कहानी: नई कहानी :

इलाहाबाद से प्रकाशित 'कहानी: नई कहानी' में डॉ. नामवर सिंह ने हिन्दी कथा-साहित्य की आलोचना के लिए एक नई पद्धति विकसित करने का प्रयास किया। वे कहानी को उसकी विधागत विशेषताओं सहित समझने और उसका विश्लेषण करने के पक्षधर हैं। उनका मानना है कि हिन्दी आलोचना, जो अब तक मुख्यत: कविता तक सीमित रही है, तब ही पूर्ण रूप से परिपक्व हो सकती है जब वह कहानी और नाटक जैसे अन्य साहित्यिक रूपों का भी गंभीर और

सुसंगत विश्लेषण करे।

इस पुस्तक में डॉ. सिंह का उद्देश्य केवल कहानियों की समीक्षा करना नहीं, बल्कि कथा-आलोचना की एक व्यापक और सुसंगत पद्धति विकसित करना है। वे इस ओर संकेत करते हैं कि जिस प्रकार कविता के अध्ययन में पाठ (text) का महत्व होता है, उसी तरह कहानी की सही समझ के लिए उसका मूल पाठ आवश्यक है। केवल भावनात्मक या अनुमानात्मक विश्लेषण कहानी के सही आशय को पकड़ने में असमर्थ होता है।

उनका यह भी मत है कि आलोचना किसी पूर्व निर्धारित मानदंड से नहीं, बल्कि पाठ-आधारित गहराई से शुरू होनी चाहिए। इसीलिए आज की कथा-समीक्षा में असली मुद्दा यह नहीं कि क्या कहा जा रहा है, बल्कि यह है कि कैसे विश्लेषण किया जा रहा है-यानी पद्धति का सवाल सबसे महत्वपूर्ण है।

च) कविता के नए प्रतिमान :

डॉ. नामवर सिंह की चर्चित पुस्तक 'कविता के नये प्रतिमान' (1968), जिसमें समकालीन हिन्दी कविता की आलोचना में व्याप्त मूल्यहीनता की स्थिति का विश्लेषण किया गया है, को 1969 में साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ। इसमें उन्होंने उन काव्य-मूल्यों को रेखांकित किया है जो वर्तमान सृजन के लिए प्रासंगिक हैं।डॉ. सिंह के अनुसार, नयी कविता के उदय के साथ काव्य-भाषा को केन्द्रीय महत्व मिला। पहले की आलोचना में भाषा की उपेक्षा हुई थी, लेकिन अब कविता की भाषा को मूल्यांकन का मूलाधार माना जाने लगा। उनका मानना है कि कविता की भाषा और उसका कथ्य एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते, क्योंकि कथ्य को भाषा के माध्यम से ही जाना जा सकता है। उन्होंने कविता की भाषा को कोई स्वतंत्र तत्व नहीं, बल्कि कविता का अभिन्न हिस्सा माना है।

एक और महत्वपूर्ण प्रतिमान 'सपाटबयानी' है, जो नयी कविता के बाद सामने आया। 1959 नयी कविता का शिखर बिंदु था, जहाँ से दो रास्ते निकले-एक रूढ़िवादी बिम्बों की ओर, दूसरा नवाचार और यथार्थ की ओर। नामवर सिंह इस सवाल को उठाते हैं कि क्या यथार्थवादी कविता बिना बिम्बों के संभव है? और यदि हाँ, तो क्या बिम्बविहीन कविताएँ भी सृजन कहलाती हैं, या केवल विचार प्रधान रचनाएँ आलोचना मानी जाएंगी? इस ग्रंथ में नामवर जी ने 'नई आलोचना' की विधियों से कविता के प्रतिमानों की गहराई से पड़ताल

की और अपनी प्रगतिशील दृष्टि को स्थापित किया। वाद-विवाद के बाद उनकी स्थापनाएँ हिन्दी आलोचना में व्यापक रूप से स्वीकृत हुई हैं।

छ) दूसरी परम्परा की खोजः

''दूसरी परंपरा की खोज'' डॉ. नामवर सिंह द्वारा लिखित एक सृजनात्मक आलोचनात्मक कृति है, जिसमें उन्होंने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साहित्य और व्यक्तित्व के माध्यम से भारतीय संस्कृति और साहित्य की जनमुखी, क्रांतिकारी परंपरा को पहचानने का प्रयास किया है। यह परंपरा कबीर के विद्रोह, सूरदास के भाव सौंदर्य, और कालिदास की कलात्मकता में प्रकट होती है। इस पुस्तक में द्विवेदी जी की फक्कड़ मस्ती, रीतिकाल पर दृष्टिकोण, तथा रहस्यवाद की सामाजिक भूमिका पर विस्तार से चर्चा की गई है, जो डॉ. नामवर सिंह की आलोचनात्मक क्षमता को दर्शाती है।

नामवर सिंह के अनुसार द्विवेदी जी ने हिंदी साहित्य में एक 'दूसरी परंपरा' को रेखांकित किया, जो जनजीवन और विद्रोही चेतना से जुड़ी हुई है। यह परंपरा उन्हें रवीन्द्रनाथ के माध्यम से शांति निकेतन में मिली, लेकिन इसकी असली प्रेरणा बलिया के लोकजीवन से आई। द्विवेदी जी का उद्देश्य हिंदी की जातीय परंपरा को पुनर्परिभाषित करना था।डॉ. नामवर सिंह ने यह स्पष्ट किया है कि द्विवेदी जी, शुक्ल जी के विरोधी नहीं हैं, परंतु उनकी दृष्टि भिन्न है। शुक्ल जी के लिए सूर का प्रेम निजी और एकांतिक है, जबकि द्विवेदी जी के लिए वह सामूहिक और लोकचेतनात्मक है। शुक्ल जी तुलसी के समन्वयवाद के पक्षधर हैं, जबकि द्विवेदी जी को कबीर का विद्रोह प्रिय है। शुक्ल जी को कबीर की वाणी अव्यवस्थित लगती है, वहीं द्विवेदी जी उन्हें वाणी का अधिनायक मानते हैं।

नामवर सिंह ने तुलसीदास और द्विवेदी जी के जीवन संघर्षों की समानता बताई है-दोनों को ही काशी के ब्राह्मण समाज से विरोध और बहिष्कार झेलना पड़ा। पुस्तक में काशी एक प्रतीकात्मक स्थल है, जहाँ द्विवेदी जी को शुक्ल-विरोधी कहकर बार-बार अपमानित किया गया। लेखक मानते हैं कि जैसे तुलसीदास का नाम आचार्य शुक्ल से जुड़ा है, वैसे ही कबीर के साथ द्विवेदी जी का नाम जुड़ता है। द्विवेदी जी के निबंधों और उपन्यासों में मस्त, फक्कड़ और विद्रोही चरित्रों के प्रति आकर्षण यही दिखाता है कि उनमें भी कबीर की

तरह अस्वीकार का साहस है।



अपनी प्रगति जाँचें

पश्न संख्या 1. नामवर सिंह द्वारा रचित दो महत्वपूर्ण पुस्तकों का नाम उल्लेख कीजिए?

पश्न संख्या 2. नामवर सिंह ने किस विश्वविद्यालय से पी.एस.डी. की डिग्री हासिल की थी?

प्रश्न संख्या 3. नामवर सिंह किन-किन पत्रिकाओं के साथ जुड़े हुए थे?

प्रश्न संख्या 4. नामवर सिंह का निधन कब हुआ था?

प्रश्न संख्या 5. नामवर सिंह का शोध-प्रबंध किस पर केन्द्रित था?

8.5 नामवर सिंह आलोचनात्मक दृष्टि

नामवर सिंह हिंदी आलोचना के ऐसे विद्वान थे जिन्होंने न केवल आलोचना को एक नया वैचारिक आधार प्रदान किया, बल्कि साहित्यिक विमर्श की दिशा को भी गहराई और व्यापकता दी। उनकी आलोचना-दृष्टि को समझने के लिए केवल उनकी पुस्तकों को पढ़ना पर्याप्त नहीं, बल्कि उनके वक्तव्यों, संपादन कार्यों और बहसों में उनकी भूमिका को भी देखना आवश्यक है। उनकी आलोचना दृष्टि गहरे सामाजिक सरोकारों, ऐतिहासिक चेतना और वैचारिक प्रतिबद्धता से युक्त रही है। वे आलोचना को केवल पाठ की व्याख्या नहीं, बल्कि विचार और समाज के यथार्थ से जोड़कर देखने के पक्षधर थे।

नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि मूलत: **समाजोन्मुख और वैचारिकरही** है। वे साहित्य को समाज से पृथक नहीं मानते थे। उनके अनुसार, साहित्य की सार्थकता तभी है जब वह अपने समय की चेतना, संघर्ष और परिवर्तन को प्रतिबिंबित करे। वे आलोचना को केवल सौंदर्यशास्त्र के दायरे में सीमित नहीं रखते, बल्कि उसके सामाजिक, राजनीतिक और वैचारिक संदर्भों की पड़ताल करते हैं।

उनकी आलोचना दृष्टि में **मार्क्सवादी दृष्टिकोण** की स्पष्ट छाया दिखाई देती है, लेकिन वे किसी विचारधारा के कठोर अनुयायी नहीं रहे। वे विचारधारा को आलोचना का आधार मानते हैं, किंतु साहित्यिक पाठ का मूल्यांकन केवल एक कोण से नहीं करते। उन्होंने बहुआयामी दृष्टिकोण अपनाते हुए साहित्य की

विविध परंपराओं, प्रवृत्तियों और विमर्शों को आलोचनात्मक ढंग से विश्लेषित किया।

उनकी महत्वपूर्ण कृति '**कविता के नए प्रतिमान**' नई कविता की आलोचना का एक मील का पत्थर है, जिसमें उन्होंने प्रयोगशील कविता की संरचना, भाषिक प्रयोग और सामाजिक चेतना की गंभीर पड़ताल की है। वहीं, '**दूसरी परंपरा की खोज**' में उन्होंने भारतीय साहित्यिक परंपरा के उन विमर्शों को सामने लाने का प्रयास किया, जिन्हें मुख्यधारा की आलोचना ने उपेक्षित किया था। यह कृति उनकी मौलिकता और परंपरा को नए दृष्टिकोण से देखने की क्षमता का प्रमाण है।

'**आलोचना और विचारधारा**', 'इतिहास और आलोचना' जैसी पुस्तकों में वे आलोचना को इतिहास और विचार से जोड़ते हुए साहित्य के गहरे सामाजिक-राजनीतिक अर्थ निकालते हैं। उन्होंने आलोचना को केवल लेखक-केंद्रित या पाठ-केंद्रित नहीं रखा, बल्कि पाठक और समाज को भी उसमें सक्रिय रूप से जोड़ा।

नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष उनका **संवादधर्मी रवैया** है। वे आलोचना को वाद-विवाद का मंच मानते हैं जहाँ असहमति और बहस को भी स्थान मिलना चाहिए। उन्होंने कई विरोधी विचारधाराओं से संवाद किया, बहस की, और जहाँ आवश्यक समझा वहाँ मतभेद भी रखा। यही कारण है कि वे एक सच्चे लोकतांत्रिक आलोचक माने जाते हैं।

उन्होंने हिंदी आलोचना को भाषाई चातुर्य और दुरूह शब्दों की दुनिया से निकालकर सहज, सुबोध और प्रभावी भाषा में प्रस्तुत किया। उनके वक्तव्य और लेखन शैली में तार्किकता, स्पष्टता और व्यंग्य का सुंदर समन्वय दिखाई देता है।

संपादन के क्षेत्र में भी उनकी आलोचना दृष्टि की स्पष्ट झलक मिलती है। 'छायान्वेषी', 'जनयुग', 'सारिका', और 'आलोचना' जैसी पत्रिकाओं में संपादक के रूप में उन्होंने हिंदी साहित्यिक विमर्श को दिशा दी। उन्होंने आलोचना को केवल पुस्तकीय गतिविधि नहीं रहने दिया, बल्कि उसे समाज में सक्रिय बौद्धिक हस्तक्षेप का माध्यम बनाया।

नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि हिंदी साहित्य को गहराई से समझने,

मूल्यांकन करने और दिशा देने वाली रही है। वे न केवल आलोचना के आचार्य थे, बल्कि आलोचना को वैचारिक संघर्ष और सामाजिक संवाद का सशक्त माध्यम बनाने वाले प्रमुख चिंतक भी थे। उनकी आलोचना दृष्टि आज भी हिंदी आलोचना को समृद्ध करती है और आने वाली पीढ़ियों के लिए एक प्रेरक आदर्श बनी रहेगी।



महत्वपूर्ण बिंदु

नामवर सिंह हिंदी साहित्य में समाजवादी, लोकतांत्रिक और मानवतावादी सोच को जनमानस में स्थापित करने वाले प्रमुख आलोचक हैं। उन्होंने साहित्य को केवल सौंदर्य नहीं, बल्कि विचार और सामाजिक दृष्टि का माध्यम मानते हुए उसे जनता से जोड़ा। उनकी आलोचना दृष्टि लोकसंवेदी, तर्कशील और जनपक्षधर रही है। परम्परा, संस्कृति और धर्म को उन्होंने मानवीय मूल्य के रूप में देखा, लेकिन इनके नाम पर सामाजिक विषमता फैलाने वाली प्रवृत्तियों का विरोध किया। वे मानते थे कि परम्परा और आधुनिकता का द्वंद्वात्मक विश्लेषण ही सार्थक आलोचना का आधार बन सकता है, जिससे समाज में समता की ओर बढ़ा जा सके।

8.5 हिंदी आलोचना और नामवर सिंह का महत्व

हिंदी साहित्य के आधुनिक आलोचना परिदृश्य में **नामवर सिंह** का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण और केंद्रीय है। उन्होंने हिंदी आलोचना को केवल साहित्यिक सौंदर्य की परख तक सीमित न रखकर उसे **समाज, इतिहास और विचारधारा**से जोड़ा। उनकी आलोचना दृष्टि ने साहित्य को यथार्थ की जमीन पर समझने की दिशा दी और साहित्यिक विमर्शों में वैचारिक गहराई लाई।

उनका महत्व निम्न बिंदुओं में स्पष्ट होता है :

1. **आलोचना को वैचारिक आधार देना**– नामवर सिंह ने आलोचना को विचारधारा–निरपेक्ष या केवल पाठ–केंद्रित दृष्टि से मुक्त करके उसे एक सामाजिक और वैचारिक कर्म के रूप में स्थापित किया।
2. **'नई कविता' की आलोचना का नया प्रतिमान**– **'कविता के नए**

प्रतिमान' जैसी कृति के माध्यम से उन्होंने नई कविता को गंभीर आलोचनात्मक विश्लेषण दिया, जिससे वह विमर्श के केंद्र में आई।

3. **'दूसरी परंपरा' की खोज**–उन्होंने हिंदी साहित्य में उपेक्षित, लोक–आधारित और जनपक्षधर परंपराओं की पहचान की और 'दूसरी परंपरा की खोज' के माध्यम से उन्हें मुख्य विमर्श में लाया।
4. **साहित्यिक बहसों का लोकतंत्रीकरण**– नामवर सिंह **नेबहस, संवाद और असहमति** को आलोचना का मूल तत्व माना। उन्होंने हिंदी साहित्यिक समुदाय में वाद–विवाद की स्वस्थ परंपरा को जन्म दिया।
5. **प्रेरक वक्ता और शिक्षाविद**–उन्होंने जेएनयू जैसे संस्थान में पीढ़ियों को साहित्य के आलोचनात्मक मूल्यों से परिचित कराया और अनेक युवा आलोचकों को दिशा दी।
6. **पत्रिकाओं के माध्यम से विमर्श निर्माण**– 'जनयुग', 'सारिका', 'आलोचना' जैसी पत्रिकाओं के संपादन से उन्होंने समकालीन साहित्य को दिशा देने का कार्य किया।

नामवर सिंह का महत्व हिंदी आलोचना को बौद्धिक, वैचारिक और सामाजिक चेतना से समृद्ध करने में है। उन्होंने आलोचना को केवल विश्लेषण नहीं, बल्कि एक वैचारिक हस्तक्षेप का औजार बनाया, जो आज भी प्रासंगिक और प्रेरणास्पद है।



8.6 सारांश

नामवर सिंह हिंदी आलोचना के क्षेत्र में एक युगनिर्माता आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनकी आलोचना–दृष्टि ने न केवल साहित्य को विचारधारा और समाज से जोड़ा, बल्कि आलोचना को एक जीवंत बौद्धिक प्रक्रिया के रूप में स्थापित किया। वे मानते थे कि साहित्य केवल भावनाओं का उद्गार नहीं, बल्कि सामाजिक यथार्थ, संघर्ष और परिवर्तन का संवेदनशील दर्पण है। इसी सोच के आधार पर उन्होंने साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन किया और नई दिशा में आलोचना को विस्तार दिया।

नामवर सिंह की आलोचना में गहराई, तार्किकता, वैचारिक स्पष्टता और समाजोन्मुखता के तत्व विद्यमान हैं। उन्होंने 'कविता के नए प्रतिमान', 'दूसरी

परंपरा की खोज', 'आलोचना और विचारधारा' जैसी पुस्तकों के माध्यम से साहित्य में न केवल नवोन्मेष किया, बल्कि परंपरा को भी नए दृष्टिकोण से देखने की दृष्टि दी।

उनका योगदान केवल लेखन तक सीमित नहीं रहा; उन्होंने शिक्षण, संपादन, संवाद और विमर्श के क्षेत्र में भी गहरा प्रभाव डाला। वे साहित्यिक बहसों को जनपक्षधरता और लोकतांत्रिक विमर्श की दिशा में ले गए।

इस प्रकार, नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि हिंदी साहित्य को वैचारिक गहराई, सामाजिक संवेदना और आलोचनात्मक विवेक प्रदान करने वाली रही है। उनके कार्यों ने हिंदी आलोचना को एक नई ऊँचाई दी, जो आज भी प्रासंगिक और प्रेरणादायी है।

8.8 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

प्रश्न संख्या 1. का उत्तर : जानने के लिए इकाई को ध्यान से पढ़े।
प्रश्न संख्या 2. का उत्तर : जानने के लिए इकाई को ध्यान से पढ़े।
प्रश्न संख्या 3. का उत्तर : जनयुग, सारिका, आलोचना आदि।
प्रश्न संख्या 4. का उत्तर : 28 फरवरी सन् 2019
प्रश्न संख्या 5. का उत्तर : जानने के लिए इकाई को ध्यान से पढ़ें।

8.9 अधिक जानने के लिए पढ़े

- इतिहास और आलोचना : नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1951
- कविता के नए प्रतिमान : नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, 1974
- दूसरी परंपरा की खोज : नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, 1982
- नामवर सिंह : आलोचना की नयी दृष्टि : गंगा प्रसाद विमल, साहित्य उपक्रम, 1995
- सिंह, नामवर, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ,विद्या मंदिर, बनारस, 1956
- वाजपेयी, नंददुलारे, हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,1942

- सिंह, नामवर, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योगदान, साहित्य भवन, 1952
- सिंह, नामवर, वाद, विवाद और संवाद, राजकमल प्रकाशन, 1986
- नवल, डॉ.नंदकिशोर, हिंदी आलोचना का विकास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1981
- सिंह, डॉ. बच्चन, आलोचक और आलोचना, नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, 1988

8.10 अभ्यास प्रश्न

क) संक्षिप्त पश्नों के उत्तर लिखिए

1. नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि का मुख्य वैचारिक आधार क्या था?
2. 'दूसरी परंपरा की खोज' ग्रंथ में नामवर सिंह ने किस प्रकार की परंपरा को उजागर किया है?
3. नामवर सिंह आलोचना को साहित्य और समाज के बीच किस रूप में देखते थे?
4. नामवर सिंह की दो आलोचनात्मक कृतियों का नाम लिखिए।
5. 'कविता के नए प्रतिमान' पुस्तक का मुख्य विषय क्या है?

ख) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखिए

1. नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि के प्रमुख तत्व कौन-कौन से हैं? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए कि उनकी दृष्टि हिंदी साहित्य को किस प्रकार नई दिशा प्रदान करती है।
2. 'कविता के नए प्रतिमान' और 'दूसरी परंपरा की खोज' के आलोक में नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि का विश्लेषण करते हुए उनके वैचारिक योगदान पर प्रकाश डालिए।
3. नामवर सिंह की आलोचना में विचारधारा, समाज और परंपरा के अंतर्संबंधों की क्या भूमिका रही है? उनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण को वर्तमान साहित्यिक परिदृश्य में किस प्रकार प्रासंगिक माना जा सकता है?
4. नामवर सिंह की कृतियों का मुल्यांकन कीजिए।
5. ''नामवर सिंह ने हिंदी आलोचना को बौद्धिक, वैचारिक और सामाजिक चेतना से समृद्ध किया''-कथन का आशय स्पष्ट कीजिए।

******

इकाई 9 : नगेन्द्र की आलोचनात्मक दृष्टि

इकाई की रूपरेखा

9.1 उद्देश्य
9.2 प्रस्तावना
9.3 नगेन्द्र जी का सामान्य परिचय
9.4 नगेन्द्र जी की कृतियों का संक्षिप्त परिचय
9.5 नगेन्द्र जी आलोचनात्मक दृष्टि
9.6 सारांश
9.7 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)
9.8 अधिक जानने के लिए पढ़ें
9.9 अभ्यास प्रश्न

9.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप

- उनके जीवन और साहित्य के बारे में जान पाएंगे।
- नगेन्द्रजी की आलोचना संबंधित दृष्टिकोणों से अवगत हो पाएंगे।
- उनके आलोचना के महत्व को समझ पाएंगे।
- उनके आलोचन के सूक्ष्म से सूक्ष्म से सूक्ष्म चीजों से रूबरू हो सकेंगे।
- उनकी कृतियों में निहित आलोचनात्मक दृष्टिकोण को जानने में सक्षम होंगे।

9.2 प्रस्तावना

हिंदी साहित्य के आधुनिक परिप्रेक्ष्य में डॉ. नागेन्द्र एक प्रतिष्ठित साहित्यकार, विचारक और आलोचक के रूप में जाने जाते हैं। उनका जन्म 1915 में हुआ और उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं में अपनी मौलिक दृष्टि से योगदान दिया। विशेष रूप से आलोचना के क्षेत्र में उनका कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली रहा है।

नगेन्द्र की आलोचना दृष्टि गहराई, संतुलन और समग्रता की विशेषताओं से युक्त थी। वे न केवल काव्यशास्त्र और रस-सिद्धांत के गहरे अध्येता थे, बल्कि उन्होंने पश्चिमी आलोचना सिद्धांतों को भी आत्मसात कर उन्हें भारतीय संदर्भ में प्रस्तुत किया। उनकी आलोचना में न तो केवल भावना का अतिरेक था, न ही शुष्क बौद्धिकता— वे भाव और बौद्धिकता के संतुलन के पक्षधर थे।

उनकी कृतियों मेंहिंदी साहित्य : दिशा और प्रवृत्तियाँ, काव्य की प्रेरणा, साहित्य और संस्कृति, आलोचना और दृष्टिजैसी पुस्तकें प्रमुख हैं। इन पुस्तकों में नागेन्द्र ने साहित्यिक प्रवृत्तियों, काव्यधारा, और रचनात्मक चेतना का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

लगभग छह दशकों तक डॉ. नगेन्द्र ने आलोचना के क्षेत्र में निरंतर सक्रिय रहकर गहन अध्ययन और चिंतन के माध्यम से हिन्दी आलोचना को समृद्ध किया। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य साहित्य का गंभीर मनोयोग से अध्ययन करके अपने विचारों को मौलिकता और गहराई के साथ प्रस्तुत किया। उनके अनुसार साहित्य मानवीय आत्मा की निष्कलुष अभिव्यक्ति है। वे मानते हैं कि काव्य में जो भी भाव व्यक्त होते हैं, वे सामान्यीकृत होते हैं—ऐसे नहीं कि वे केवल कवि के ही अनुभव हों, बल्कि एक सजग पाठक भी उन अनुभूतियों से जुड़ सकता है। इसीलिए वे साहित्य में कवि के व्यक्तित्व और उसकी आंतरिक प्रवृत्तियों को समझना आवश्यक मानते हैं। फ्रायड जैसे मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांतों के सहारे उन्होंने आलोचना को एक नई दिशा प्रदान की।

गहराई से अध्ययन करने के बाद डॉ. नगेन्द्र ने एक ओर रस-ग्राही हृदय की सूक्ष्म संवेदनाओं का विश्लेषण किया, वहीं दूसरी ओर कवि की सृजनात्मक चेतना और उसके व्यक्तित्व की गरिमा को भारतीय काव्यशास्त्र में एक विशिष्ट स्थान दिलाया। यह प्रयास इस क्षेत्र में पहले कभी इतने सशक्त रूप में नहीं हुआ था।डॉ. नगेन्द्र की आलोचना निष्पक्ष और पूर्वग्रहों से रहित है। वे किसी एक विचारधारा से बँधे नहीं हैं, बल्कि उन्होंने विभिन्न आलोचना प्रवृत्तियों और सिद्धांतों को संतुलन के साथ समाहित किया है। यही संतुलित दृष्टिकोण उन्हें हिन्दी आलोचना के शीर्षस्थ विद्वानों में स्थापित करता है।

नगेन्द्र का योगदान केवल आलोचना तक सीमित नहीं था; वे एक कुशल संपादक और शिक्षाविद् भी थे। उन्होंने हिंदी साहित्य को एक व्यापक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में देखने का दृष्टिकोण दिया, जिससे समकालीन और परवर्ती आलोचकों को नई दिशा मिली।

संक्षेप में, नगेन्द्र हिंदी आलोचना को एक सैद्धांतिक गहराई और बौद्धिक गरिमा देने वाले प्रमुख विचारक थे। उनका योगदान हिंदी साहित्य के विकास में मील का पत्थर सिद्ध हुआ है।

9.3 नगेन्द्र जी का सामान्य परिचय

डॉ. नगेन्द्र हिंदी साहित्य के एक विशिष्ट आलोचक, विचारक, और साहित्यशास्त्री के रूप में पहचाने जाते हैं। उनका जन्म 1915 ईस्वी में उत्तर प्रदेश के एक शिक्षित और सांस्कृतिक वातावरण वाले परिवार में हुआ था। आरंभ

से ही वे अध्ययनशील और चिंतनशील प्रवृत्ति के थे। शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने उच्चतम उपलब्धियाँ प्राप्त कीं। नागेन्द्र ने अंग्रेज़ी और हिंदी दोनों भाषाओं में गहरी पैठ बनाई, जिसका प्रभाव उनकी साहित्यिक दृष्टि में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

नगेन्द्र का जीवन मूलत: एक शिक्षक, विचारक और शोधकर्ता का रहा। वे दिल्ली विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष भी रहे और उन्होंने शिक्षा और शोध के क्षेत्र में अनेक उल्लेखनीय कार्य किए। उन्होंने अनेक छात्रों का मार्गदर्शन किया और हिंदी साहित्य में नवदृष्टि के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

साहित्यिक जीवन की बात करें तो नागेन्द्र का मुख्य योगदान आलोचना के क्षेत्र में रहा है, लेकिन वे एक सफल निबंधकार, काव्यशास्त्री और संपादक भी रहे। उनकी आलोचना दृष्टि भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा और आधुनिक पाश्चात्य सिद्धांतों का समन्वय प्रस्तुत करती है। वे न केवल परंपरा के पोषक थे, बल्कि आधुनिकता के समर्थक भी थे। उनकी आलोचना में भावात्मकता और बौद्धिकता का सुंदर समन्वय देखने को मिलता है।

नगेन्द्र की प्रमुख कृतियों मेंहिंदी साहित्य : दिशा और प्रवृत्तियाँ, आलोचना और दृष्टि, काव्य की प्रेरणा, रस सिद्धांत और उसका विकास, काव्य में आत्माआदि सम्मिलित हैं। इन कृतियों में उन्होंने साहित्य की गत्यात्मकता, उसके सांस्कृतिक और दार्शनिक आयामों को विश्लेषित किया है। वे मानते थे कि साहित्य केवल सौंदर्य की अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि समाज, संस्कृति और मनुष्य के गहरे अंतर्संबंधों का दर्पण भी है।

नगेन्द्र ने हिंदी आलोचना को वैचारिक गहराई और सैद्धांतिक दृढ़ता प्रदान की। वे परंपरागत आलोचना पद्धतियों से आगे बढ़ते हुए एक ऐसी आलोचना दृष्टि विकसित करना चाहते थे जो समय, समाज और साहित्य के समन्वय को समझ सके। उनकी आलोचना में न तो केवल रचनाकार की आत्मकथा होती है, न ही केवल पाठक की संवेदना, बल्कि वे रचना, रचनाकार और समाज– तीनों के मध्य एक संवाद स्थापित करते हैं।

नगेन्द्र एक कुशल संपादक भी थे। उन्होंने साहित्यालोचन और साहित्य वाग्मयजैसी पत्रिकाओं का संपादन किया जो साहित्यिक विचारधारा के प्रचार– प्रसार का सशक्त माध्यम बनीं।

अंतत:, नागेन्द्र का जीवन और साहित्य दोनों हिंदी जगत के लिए प्रेरणास्रोत हैं। वे न केवल एक आलोचक थे, बल्कि साहित्य की आत्मा को पहचानने वाले संवेदनशील चिंतक भी थे। उनका योगदान हिंदी साहित्य के इतिहास में एक अमिट छाप छोड़ गया है।

9.4 नगेन्द्र की कृतियों का संक्षिप्त परिचय

साहित्यिक रचना–डॉ. नगेन्द्र ने 1931 से लगभग साठ वर्षों तक विभिन्न विधाओं में निरंतर साहित्य–सेवा की। उनका कार्यक्षेत्र काव्य, आलोचना, निबंध, अनुसंधान, भाषा–विज्ञान, यात्रा–वृत्तांत, आत्मकथा और संस्मरण तक विस्तृत था। उनकी साहित्यिक यात्रा की शुरुआत काव्य से हुई। 1931 में कविता लेखन प्रारंभ किया और 'वनबाला' (1937) तथा 'छंदमयी' (1949) जैसे काव्य–संग्रह प्रकाशित हुए, जिनमें छायावाद का प्रभाव स्पष्ट है। 1949 तक उन्होंने सक्रिय रूप से कविताएँ लिखीं।

आलोचना के क्षेत्र में उनका पहला कदम 1937 में 'छायावाद' शीर्षक निबंध के साथ पड़ा। उनका मानना था कि जैसे एक कवि के लिए गीत जरूरी हैं, वैसे ही एक आलोचक के लिए निबंध। उनके निबंध जीवन और साहित्य के मूल्यों में आस्था से प्रेरित हैं। निबंध लेखन की प्रेरणा उन्होंने साहित्य के सौंदर्य और अर्थ की अनुभूति को बताया। उनके समस्त निबंध 'आस्था के चरण' (खंड 1 और 2) में संकलित हैं।

शोध एवं अनुसंधान

नगेन्द्रजी ने 1941 से 1946 के मध्य गहन शोधकार्य किया। इस अनुसंधान के परिणामस्वरूप उन्होंने दो महत्वपूर्ण कृतियाँ–'रीतिकाव्य की भूमिका' और 'देव और उनकी कविता' की रचना की। ये दोनों ग्रंथ आगरा विश्वविद्यालय द्वारा डी.लिट् उपाधि हेतु स्वीकृत हुए और वर्ष 1951 में प्रकाशित हुए। 'रीतिकाव्य की भूमिका' में रीतिकाव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अंतर्गत तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और कलात्मक प्रवृत्तियों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें व्याकरण, दर्शन और काव्यशास्त्र के माध्यम से रीतिकाव्य की मूल आधारभूमि का गहन विश्लेषण किया गया है। इस ग्रंथ में रीतिकाव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ—जैसे रीति–निर्धारण, श्रृंगारिक तत्व, जीवन–दर्शन, धार्मिकता, भक्ति भावना, अलंकारों, उपमानों तथा प्रतीकों की विस्तार से चर्चा की गई है।

दूसरे ग्रंथ 'देव और उनकी कविता' में कवि देव से संबंधित सामग्री का परीक्षण किया गया है। इसमें देव का जीवन–परिचय, उनके काव्य–ग्रंथों की

प्रमाणिकता, रचना-क्रम, प्रमुख विषयवस्तु, श्रृंगार चित्रण, रीति की व्याख्या, उनकी चित्रण शैली और भाषा की अभिव्यंजना को विश्लेषित किया गया है। साथ ही, अन्य कवियों का देव पर पड़ा प्रभाव और हिन्दी साहित्य में देव की स्थिति पर भी प्रकाश डाला गया है।

संस्मरण

डॉ. नगेन्द्र की पुस्तक 'चेतना के बिंब' उनके दस संस्मरणात्मक रेखाचित्रों का संग्रह है। इन रचनाओं को 'संस्मरणात्मक रेखाचित्र' कहना अधिक उपयुक्र होगा। स्वयं नगेन्द्रजी के अनुसार, ''प्रत्येक रचना मेरे साहित्यिक श्रद्धांजलि की एक प्रकार की अभिव्यक्ति है, जिसमें बुद्धि ने प्राय: भावना के नियंत्रण में रहकर कार्य किया है।''

यात्रा-वृत्तांत

डॉ. नगेन्द्र द्वारा लिखित यात्रा-वृत्तांतों के दो प्रमुख संग्रह हैं- 'तंत्रालोक से मंत्रालोक तक' और 'अप्रवासी की यात्राएँ'। इन दोनों संकलनों की रचनाओं को उन्होंने 'यात्रा संस्मरण' की संज्ञा दी है, क्योंकि इनमें तथ्यों की ठोस प्रस्तुति की बजाय कल्पनाशीलता को प्राथमिकता दी गई है। विभिन्न स्थलों की यात्रा करते समय लेखक के मन में उभरे स्मृति-चित्रों को इन रचनाओं में चित्रित किया गया है।

आत्मकथा

नगेन्द्रजी एक प्रतिष्ठित साहित्यकार और आलोचक थे, जिनका लेखन कार्य अनेक विधाओं में फैला हुआ था। उन्होंने अपनी आत्मकथा को ''अर्द्धकथा'' नाम दिया, क्योंकि उसमें उन्होंने अपने जीवन के केवल उन्हीं अनुभवों को साझा किया, जिन्हें सार्वजनिक करना उचित समझा। वे मानते थे कि कुछ अनुभव इतने व्यक्तिगत होते हैं कि उनका प्रकाशन दूसरों के प्रति अन्याय हो सकता है।

उनकी पहली आलोचनात्मक कृति 'सुमित्रानंदन पंत' है, जिसमें पंतजी को सौंदर्य का कवि माना गया है। शुक्लजी ने इस कृति की सराहना करते हुए कहा कि यह 'छायावाद' की सम्यक समीक्षा करने वाली एकमात्र ठोस पुस्तक है।

दूसरी कृति 'साकेत एक अध्ययन' (1939) में उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त के काव्य साकेत की कथावस्तु, सांस्कृतिक आधार, और गार्हस्थ्य-चित्रण पर विस्तार से विचार किया। तीसरी कृति 'आधुनिक हिन्दी नाटक' (1940) में नगेन्द्रजी ने हिन्दी नाटक की विविध शैलियों-जैसे समस्या नाटक, गीति नाट्य, एकांकी आदि-का विश्लेषण किया और हिन्दी रंगमंच की स्थिति पर भी चर्चा की।

इसके अलावा उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र पर अनेक गहन और विश्लेषणात्मक कृतियाँ लिखीं जैसे-'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका', 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', 'रस सिद्धांत', 'काव्य-बिंब', 'नयी समीक्षा', 'मिथक और साहित्य', 'साहित्य का समाजशास्त्र' आदि।उनकी व्यावहारिक आलोचना की प्रमुख रचनाएँ हैं - 'मैथिलीशरण गुप्त पुनर्मूल्यांकन', 'हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ', 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ', 'राम की शक्तिपूजा' आदि। उन्होंने कई ग्रंथों का संपादन और अनुवाद भी किया। उनका साहित्यिक योगदान कविता, आलोचना, निबंध, शोध, संस्मरण, यात्रा-वृत्त, संपादन और आत्मकथा जैसे क्षेत्रों में फैला हुआ है, जो उनके बहुआयामी व्यक्तित्व और विद्वत्ता का प्रमाण है।

9.5 नागेन्द्र जी की आलोचनात्मक दृष्टि

हिंदी आलोचना साहित्य में जिन नामों ने आधुनिक बौद्धिक विमर्श और सैद्धांतिक गहराई की आधारशिला रखी, उनमें डॉ. नागेन्द्र का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। वे न केवल हिंदी साहित्य के एक प्रखर आलोचक थे, बल्कि एक दार्शनिक चिंतक, शिक्षाविद्, साहित्य-सिद्धांतकार और संपादक भी थे। उनकी आलोचना दृष्टि बहुआयामी थी, जिसमें परंपरा और आधुनिकता, भारतीयता और विश्व-दृष्टि, भाव और बुद्धि का अद्भुत संतुलन दिखाई देता है। उन्होंने हिंदी साहित्य की आलोचना परंपरा को एक नई सैद्धांतिक दिशा दी जो आज भी प्रासंगिक बनी हुई है।

आलोचना की अवधारणा :

डॉ. नगेन्द्र की दृष्टि में आलोचना एक रचनात्मक कार्य है। वे आलोचना को केवल दोष निकालने या प्रशंसा करने की प्रक्रिया नहीं मानते थे। उनके अनुसार, ''आलोचना साहित्य की आत्मा को समझने का माध्यम है।'' वह

आलोचक को केवल बाहरी दृष्टि से नहीं, बल्कि रचना के अंतरंग स्वरूप में प्रवेश करने वाला संवेदनशील सहयात्री मानते हैं।

उनकी आलोचना की अवधारणा विशुद्ध सृजनात्मकता और तात्विकता से युक्त थी। वे मानते थे कि आलोचना न केवल साहित्यिक मूल्यांकन है, बल्कि वह समाज, संस्कृति, और मनुष्य के जीवन-मूल्यों को समझने और परखने का माध्यम भी है।

भाव और बुद्धि का संतुलन :

डॉ. नगेन्द्र की आलोचना दृष्टि में भावनात्मकता और बौद्धिकता दोनों का संतुलन मिलता है। वे एक ओर जहाँ काव्य के भावात्मक पक्ष को समझते हैं, वहीं दूसरी ओर उसकी तर्कसंगत व्याख्या भी करते हैं। उनका मानना था कि यदि आलोचना केवल भावुकता में बह जाए, तो वह आत्मीयता खो देती है, और यदि वह केवल बौद्धिक हो जाए, तो शुष्क और निरर्थक बन जाती है।

इसलिए उनकी आलोचना में न तो केवल 'रस' की प्रधानता है और न ही केवल 'तर्क' का वर्चस्व। वे दोनों को संतुलित रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिससे आलोचना अधिक समग्र और जीवन्त बनती है।

परंपरा और आधुनिकता का समन्वय:

नगेन्द्र की आलोचना दृष्टि की एक विशेषता यह भी है कि वे परंपरा और आधुनिकता के मध्य कोई विरोध नहीं मानते, बल्कि दोनों के बीच संवाद की संभावना देखते हैं। वे भारतीय काव्यशास्त्र— विशेषत: रस सिद्धांत, अलंकार शास्त्र, और ध्वनि सिद्धांत— के गहरे अध्येता थे, लेकिन साथ ही वे कोलरिज, मैथ्यू अर्नाल्ड, टी.एस. एलियट, और इ. ए. रिचर्ड्स जैसे पाश्चात्य आलोचकों के विचारों से भी परिचित थे।

उन्होंने इन दोनों धाराओं को एक भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण से समन्वित किया। उनकी पुस्तक ''काव्य की प्रेरणा'' में यह समन्वय स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है, जहाँ वे काव्य की प्रेरणा को आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक आयामों में समझते हैं।

रचना, रचनाकार और पाठक की त्रयी:

नगेन्द्र की आलोचना दृष्टि एक त्रिकोण पर आधारित है—रचना, रचनाकार, औरपाठक। वे मानते हैं कि एक आलोचक को इन तीनों पक्षों को ध्यान में रखकर ही किसी साहित्यिक कृति का मूल्यांकन करना चाहिए। न केवल रचना

का शिल्प और भाषा महत्वपूर्ण है, बल्कि उसका भाव-संसार, सृजन प्रक्रिया और पाठकीय संवेदना भी महत्त्वपूर्ण हैं।

वे आलोचक को एक ''संवेदनशील सेतु'' मानते थे जो रचनाकार की अनुभूतियों और पाठक की प्रतीति के मध्य पुल बनाता है। उनकी आलोचना इसी सेतु की स्थापना करने का कार्य करती है।

अपनी प्रगति जाँचें

पश्न संख्या 1. ''आलोचना साहित्य की आत्मा को समझने का माध्यम है।''- यह किसने कहा था?

पश्न संख्या 2. नगेन्द्र की आलोचना दृष्टि किस त्रिकोण या त्रयी पर आधारित है?

प्रश्न संख्या 3. नगेन्द्र की साहित्यिक सम्बंधित आलोचनात्मक दृष्टिकोण क्या है?

प्रश्न संख्या 4. नगेन्द्र द्वारा रचित काव्यसंग्रह का नाम लिखिए।

प्रश्न संख्या 5. नगेन्द्र के सम्पूर्ण निबंध किसमे संगृहीत है?



सांस्कृतिक दृष्टिकोण

डॉ. नगेन्द्र की आलोचना में भारतीय संस्कृति की गहरी छाया है। वे साहित्य को संस्कृति का दर्पण मानते हैं और आलोचना को सांस्कृतिक संवाद का माध्यम। उनके अनुसार, ''कोई भी रचना उस संस्कृति से अछूती नहीं होती जिसमें वह उत्पन्न होती है।'' यही कारण है कि उनकी आलोचना में केवल कलात्मक या सौंदर्यात्मक मूल्य नहीं, बल्कि सांस्कृतिक चेतना भी अंतर्निहित रहती है।

वे साहित्यिक प्रवृत्तियों को केवल शैली या विषय-वस्तु के आधार पर नहीं, बल्कि सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक संदर्भों में देखने का आग्रह करते हैं। उनकी कृति ''हिंदी साहित्य- दिशा और प्रवृत्तियाँ'' इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

मूल्य-निर्णय :

डॉ. नगेन्द्र मूल्य-निर्णय को आलोचना का एक अनिवार्य अंग मानते थे, लेकिन वह मूल्य-निर्णय किसी पूर्वग्रह या व्यक्तिगत पसंद-नापसंद पर आधारित

नहीं होना चाहिए— यह उनके आलोचना सिद्धांत की केंद्रीय मान्यता है। वे तटस्थता, विवेक और गहराई से युक्त मूल्य-निर्णय की वकालत करते हैं। उनकी आलोचना में रचना की साहित्यिक गुणवत्ता, भाषा की अभिव्यंजना शक्ति, शिल्प का सौंदर्य और विचार का गाम्भीर्य सभी तत्वों को समग्रता में देखा जाता है।

रस सम्बन्धी दृष्टिकोण :

डॉ. नगेन्द्र ने रस और भाव के संबंध को अटूट माना है। उनका कहना है कि रस भाव पर आश्रित होता है और भाव के बिना रस की कल्पना संभव नहीं है। किंतु रसानुभूति और भावानुभूति में अंतर है-जहाँ भावानुभूति में राग-द्वेष जैसे व्यक्तिगत तत्व जुड़े रहते हैं, वहीं रसानुभूति में भाव साधारणीकरण के द्वारा निर्वैयक्तिक होकर आनन्द प्रदान करता है। यही चित्त की मुक्तावस्था है।रस-क्रिया में सहृदय मन विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता है। करुण रस के अनुभव में भले ही शोक और पीड़ा जुड़े हों, फिर भी वह अंतत: एक कलात्मक सुख देता है। यह सुख शुद्ध भाव का नहीं, बल्कि उस भाव की कलात्मक अभिव्यक्ति का सुख है।

नगेन्द्रजी ने रस-सिद्धांत को मानवतावादी दृष्टिकोण से देखते हुए कहा है कि यह सिद्धांत एक ऐसी भूमिका पर आधारित है जहाँ आनंद और कल्याण, नैतिकता और संस्कृति, व्यक्ति और समाज, भौतिक और आध्यात्मिक मूल्य एक-दूसरे के विरोधी नहीं रहते। स्वतंत्रता के बाद के मूल्य-बिखराव के समय में उन्होंने रस-सिद्धांत को शाश्वत और सार्वभौमिक रूप में प्रस्तुत किया।डॉ. नगेन्द्र के अनुसार, रस अनुभूति नहीं, बल्कि अनुभूति का विषय है। रस कोई वस्तु नहीं, बल्कि काव्य का वह निर्वैयक्तिक भाव है जो आस्वादन योग्य होता है। बुद्धि, कल्पना और अलंकार को वे भाव के सहायक तत्व मानते हैं। रस के स्थायित्व की कसौटी यह है कि किसी काव्य को पढ़ते समय रसास्वाद की अनुभूति कितनी देर तक बनी रहती है।उनके अनुसार, रस मानव जीवन का चरम मूल्य है। भारतीय रसशास्त्र ने साधारणीकरण के माध्यम से सहस्त्रों वर्ष पहले ही इन मानव मूल्यों की सार्वकालिकता और सार्वभौमिकता सिद्ध कर दी थी।

ध्वनि सिद्धांत और कल्पना :

डॉ. नगेन्द्र साहित्य या काव्य में अनुभूति को मूल तत्व मानते हैं, जिसे व्यक्त करने का माध्यम है -ध्वनि। ध्वनि के विश्लेषण के उपरांत वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि काव्य की आत्मा ध्वनि है, तो ध्वनि की आत्मा रस है। उनके अनुसार, काव्य में ध्वनि और रस का संबंध कल्पना और भावना के मेल से बनता है। डॉ. नगेन्द्र का मत है कि ध्वनि-सिद्धांत जहाँ आधुनिक दृष्टिकोण से भाव की कल्पनाशील अभिव्यक्ति को महत्व देता है, वहीं रस-सिद्धांत भाव तत्व को प्रधानता देता है। दोनों में कोई परस्पर विरोध नहीं है- न तो ध्वनिवादी भाव का तिरस्कार करते हैं और न ही रसवादी व्यंजना का।

वे स्पष्ट रूप से भाव को काव्य का आधार मानते हैं और कल्पना तथा बुद्धि को उसके सहायक तत्वों के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार, काव्य का वास्तविक आस्वाद इन्द्रियों से ग्रहण किए जाने योग्य शुद्ध या निर्वैयक्तिक भाव का आस्वाद होता है।

साहित्य सम्बन्धी विचार :

नगेन्द्र ने सैद्धांतिक आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश करते समय भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की गहराई-दोनों को सामने रखा। उन्होंने आधुनिक मनोविज्ञान के साथ-साथ पाश्चात्य सिद्धांतों के सहयोग से भारतीय दृष्टिकोण को नए रूप में प्रस्तुत करते हुए हिन्दी के लिए एक समन्वयात्मक आलोचना-प्रणाली का निर्माण किया। नगेन्द्रजी की साहित्य संबंधी प्रमुख अवधारणाएँ :

1. साहित्य आत्माभिव्यक्ति है, और यही अभिव्यक्ति लेखक व पाठक दोनों के लिए रसात्मक आनंद का स्रोत बनती है।

2. आत्माभिव्यक्ति, जीवन की प्रेरक शक्ति-आत्म-रक्षण-का प्रमुख माध्यम है।

3. साहित्य अन्य जीवन-अभिव्यक्तियों की तरह एक विशिष्ट कला है, जिसकी सम्यक समझ केवल कला-पारखी विशेषज्ञों को होती है; आम पाठक केवल उसका रसास्वादन कर सकते हैं।

4. साहित्य का मूल्यांकन लेखक की आत्मिक गहराई, उसकी अभिव्यक्ति

की प्रामाणिकता और पूर्णता के आधार पर किया जाना चाहिए।



महत्वपूर्ण बिंदु

डॉ. नगेन्द्र की आलोचना दृष्टि को उनकी अनेक महत्वपूर्ण कृतियों में देखा जा सकता है। इनमें से कुछ प्रमुख हैं:

- **हिंदी साहित्यः दिशा और प्रवृत्तियाँ**– इसमें उन्होंने आधुनिक हिंदी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है।
- **काव्य की प्रेरणा**– इस पुस्तक में उन्होंने काव्य के प्रेरणा-स्रोतों, उसके तत्वों और उद्देश्यों का दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान और काव्यशास्त्र के आधार पर गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया है।
- **आलोचना और दृष्टि**–इस कृति में नागेन्द्र ने आलोचना के सैद्धांतिक पक्षों के साथ-साथ साहित्यिक मूल्यांकन की पद्धतियों पर भी विस्तार से चर्चा की है।
- **काव्य में आत्मा**– यह पुस्तक रचना के आत्मिक पक्ष की विवेचना करती है और साहित्य की अंतः प्रेरणा को उजागर करती है।

नगेन्द्र की आलोचना का प्रभाव :

डॉ. नगेन्द्र की आलोचना दृष्टि ने हिंदी साहित्य को एक नई विचारशीलता, गहराई और सैद्धांतिक स्पष्टता प्रदान की। उनके आलोचनात्मक विचारों ने समकालीन और परवर्ती आलोचकों को नई दृष्टि दी। रामविलास शर्मा की यथार्थवादी आलोचना से भिन्न, नागेन्द्र की दृष्टि अधिक संतुलित, समन्वयशील और सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण की वाहक रही।

उनके कार्यों से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने आलोचना को केवल अकादमिक अनुशासन नहीं, बल्कि एक जीवन्त बौद्धिक अभ्यास के रूप में देखा। उनकी आलोचना ने हिंदी साहित्य को एक वैश्विक संदर्भ में देखने की दृष्टि दी, जिसमें भारतीयता की आत्मा भी सुरक्षित रही।



9.6 सारांश

डॉ. नगेन्द्र की आलोचना दृष्टि हिंदी साहित्य में एक ऐसी परंपरा का निर्माण करती है जो विचार और संवेदना, परंपरा और आधुनिकता, साहित्य और संस्कृति के बीच सेतु बनाती है। वे न तो केवल सैद्धांतिक आलोचक थे

और न ही केवल भावनात्मक समीक्षक—बल्कि उन्होंने आलोचना को एक ऐसी सृजनात्मक प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया, जिसमें साहित्यिक रचना के सभी आयामों की सूक्ष्म और संतुलित विवेचना संभव हो सके।

डॉ. नगेन्द्र का हिंदी आलोचना पर गहरा प्रभाव उनके वैज्ञानिक, यथार्थवादी और तार्किक दृष्टिकोण के कारण स्थापित हुआ। उन्होंने आलोचना को केवल गुण-दोष की चर्चा से आगे बढ़ाकर साहित्य के व्यापक और बहु आयामी विश्लेषण का माध्यम बनाया। उन्होंने समीक्षा के लिए एक व्यवस्थित ढाँचा प्रस्तुत किया, जिसमें अध्ययन, मूल्यांकन और व्याख्या सम्मिलित थी। उनके द्वारा स्थापित आलोचनात्मक सिद्धांतों ने हिंदी आलोचना को एक स्पष्ट दिशा और पहचान दी। उनके कार्यों से न केवल आलोचना परंपरा समृद्ध हुई, बल्कि साहित्यिक ग्रंथों की गहराई और प्रासंगिकता को भी नई ऊँचाई मिली, जिससे हिंदी साहित्य को वैश्विक मंच मिला।

उनकी आलोचना दृष्टि आज भी प्रासंगिक है क्योंकि वह केवल किसी विशेष समय की प्रवृत्ति नहीं थी, बल्कि एक दीर्घकालिक बौद्धिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण की प्रतिनिधि थी। नागेन्द्र हिंदी आलोचना के ऐसे शिल्पी हैं जिन्होंने इसे गंभीरता, गरिमा और गहराई प्रदान की— और यही उन्हें हिंदी साहित्य में एक विशिष्ट स्थान दिलाता है।

9.7 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

प्रश्न संख्या 1. का उत्तर : डॉ. नगेन्द्र।

प्रश्न संख्या 2. का उत्तर : रचना, रचनाकार और पाठक की त्रिकोण पर।

प्रश्न संख्या 3. का उत्तर : साहित्य अन्य जीवन-अभिव्यक्तियों की तरह एक विशिष्ट कला है, जिसकी सम्यक समझ केवल कला-पारखी विशेषज्ञों को होती है; आम पाठक केवल उसका रसास्वादन कर सकते हैं।

प्रश्न संख्या 4. का उत्तर : वनबाला, छंदमयी।

प्रश्न संख्या 5. का उत्तर : आस्था के चरण (खंड-1 और खंड-2)

9.8 अधिक जानने के लिए पढ़ें

- डॉ. नगेन्द्र, आलोचना और दृष्टि:, 1973, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज

(इलाहाबाद)

- डॉ. नगेन्द्र,हिंदी साहित्य: दिशा और प्रवृत्तियाँ, 1960, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
- डॉ. नगेन्द्र,काव्य की प्रेरणा, 1966,साहित्य भवन, प्रयागराज (इलाहाबाद)
- डॉ. नगेन्द्र,रस सिद्धांत और उसका विकास, 1955,साहित्य भारती, वाराणसी
- डॉ. नगेन्द्र, काव्य में आत्मा,1978 लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज
- डॉ. अमरनाथ, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और परवर्ती आलोचना, शब्द और शब्द, दिल्ली
- शर्मा, डॉ. वेंकट, आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।
- उपाध्याय, डॉ. पशुपतिनाथ, समन्वयवादी समीक्षा और डॉ. नगेन्द्र दिल्ली, 1997. अभिरुच प्रकाशन।
- गांग्रा, रणवीर (सं), डॉ. नगेन्द्र व्यक्तित्व और कृतित्व, भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली।
- डॉ. एस. लक्ष्मी, डॉ. नगेन्द्र विश्लेषण और मूल्यांकन,, रंजन प्रकाशन, आगरा, 1971

9.8 अभ्यास प्रश्न

क) संक्षिप्त प्रश्नों के उत्तर लिखिए :

1. डॉ. नगेंन्द्र का जन्म कब और कहां हुआ था?
2. नगेंन्द्र जी का किस आलोचना प्रवृत्ति से विशेष लगाव था?
3. 'छायावाद' निबंध के रचनाकार कौन है?
4. 'साकेत एक अध्ययन' कृति का मुख्य विषय क्या है?
5. 'रीति काव्य की भूमिका' कृति में किस रचनाकार के विषय में चर्चा की गई है?

ख) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखिए :

1. डॉ. नगेंन्द्र के साहित्यिक जीवन की प्रमुख विशेषताएँ क्या थीं? उनके आलोचक, उपन्यासकार और निबंधकार रूपों का विश्लेषण कीजिए।

2. डॉ. नगेंन्द्र की आलोचना दृष्टि में 'रस' और 'संवेदना' की क्या भूमिका है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
3. आधुनिक हिंदी आलोचना को गढ़ने में डॉ. नागेन्द्र का योगदान क्या रहा? उनके आलोचनात्मक सिद्धांतों की विवेचना कीजिए।
4. नगेंन्द्र की आलोचनात्मक दृष्टिकोण पर एक आलेख प्रस्तुत कीजिए।
5. नगेन्द्र की रस, ध्वनि और साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण पर चर्चा कीजिए।

*****

इकाई 10 : मार्क्सवादी आलोचक शिवदान सिंह चौहान

इकाई की रूपरेखा

10.1 उद्देश्य

10.2 प्रस्तावना

10.3 शिवदान सिंह चौहान जी का सामान्य परिचय

10.4 शिवदान सिंह चौहान की सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना दृष्टि

10.5 शिवदान सिंह आलोचनात्मक दृष्टि की विशेषताएँ

10.6 सारांश

10.7 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

10.8 अधिक जानने के लिए पढ़े

10.9 अभ्यास पश्न

10.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप

- उनके जीवन और साहित्य के बारे में जान पाएंगे।
- शिवदान सिंह चौहान जी के आलोचना संबंधित दृष्टिकोणों से अवगत हो पाएंगे।
- उनके आलोचना के महत्व को समझ पाएंगे।
- उनके आलोचन के सूक्ष्म से सूक्ष्म चीजों से रूबरू हो सकेंगे।
- उनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना दृष्टि से अवगत हो पाएंगे।

10.2 प्रस्तावना

हिंदी साहित्य जगत में शिवदान सिंह चौहान का महत्वपूर्ण योगदान आलोचना, निबंध और संपादन के क्षेत्र में रहा है। वे हिन्दी में समाजवादी आलोचना दृष्टिकोण के प्रवर्तक माने जाते हैं। उन्होंने साहित्य को केवल भावनाओं की अभिव्यक्ति न मानकर उसे सामाजिक यथार्थ से जोड़कर देखने

की प्रेरणा दी। उनकी आलोचना पद्धति में मार्क्सवादी दृष्टिकोण प्रमुख रूप से दिखाई देता है, परंतु वे किसी विचारधारा के अंध अनुयायी न होकर तर्क और विवेक को प्राथमिकता देते थे।

चौहान ने 'कल्पना' जैसी प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका का संपादन कर अनेक नए लेखकों को मंच प्रदान किया। उनके लेखन में वैचारिक स्पष्टता, तार्किकता और गहराई मिलती है। 'भारतीय साहित्य का इतिहास' और 'आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ' जैसे ग्रंथ उनके बहुआयामी चिंतन के उदाहरण हैं। शिवदान सिंह चौहान ने हिंदी आलोचना को सामाजिक संदर्भों से जोड़ने का कार्य कर उसे व्यापक और समसामयिक बनाया।

10.3 शिवदान सिंह चौहान जी का सामान्य परिचय

शिवदान सिंह चौहान हिंदी साहित्य के उन महत्त्वपूर्ण आलोचकों, निबंधकारों और संपादकों में से एक हैं जिन्होंने आधुनिक हिंदी साहित्य को वैचारिक दिशा देने में विशेष योगदान दिया। वे न केवल आलोचक थे, बल्कि साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का साधन मानने वाले विचारक भी थे। उनका लेखन, संपादन और साहित्यिक दृष्टिकोण समकालीन हिंदी साहित्य को एक नई चेतना देने वाला रहा है।

जीवन परिचय :

शिवदान सिंह चौहान का जन्म सन् 1910 में उत्तर प्रदेश के बरेली ज़िले के एक गांव में हुआ था। उन्होंने प्रारंभिक शिक्षा अपने गांव में प्राप्त की और बाद में उच्च शिक्षा के लिए वे इलाहाबाद और बनारस जैसे शिक्षा के केंद्रों में गए। उनका रुझान शुरू से ही साहित्य, दर्शन और समाजशास्त्र की ओर था। शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात उन्होंने पत्रकारिता और संपादन के क्षेत्र में कार्य करना आरंभ किया। उनके जीवन का एक बड़ा हिस्सा 'कल्पना' पत्रिका के संपादन और साहित्यिक लेखन में समर्पित रहा।

शिवदान सिंह चौहान का निधन सन् 1974 में हुआ, लेकिन हिंदी साहित्य में उनका प्रभाव आज भी जीवित है।

साहित्यिक परिचय एवं योगदान :

साहित्य और समाज का गहरा संबंध है। जिस प्रकार मनुष्य समाज के बिना अधूरा है, उसी प्रकार साहित्य का भी अस्तित्व समाज के बिना संभव

नहीं। आलोचक नामवर सिंह के अनुसार साहित्य और समाज का संबंध कुछ वैसा ही है जैसा धरती और फूल का। शिवदान सिंह चौहान भी साहित्य को समाज की प्रगतिशीलता से जोड़ते हैं। वे साहित्य को मानवीय संवेदना और अनुभूतियों का माध्यम मानते हैं तथा उसे ऐतिहासिक संदर्भों में देखते हैं। उनके अनुसार, प्रगतिशील साहित्यकार बनने के लिए केवल कलात्मक क्षमता नहीं, बल्कि प्रगतिशील दृष्टिकोण भी आवश्यक है।

शिवदान सिंह चौहान हिंदी आलोचना में समाजवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोण के प्रमुख प्रवर्तकों में से थे। वे मानते थे कि साहित्य केवल सौंदर्यबोध या भावनाओं का खेल नहीं है, बल्कि यह समाज की वास्तविकताओं का प्रतिबिंब होना चाहिए। उनकी आलोचना में वर्ग संघर्ष, आर्थिक असमानता, सामाजिक शोषण जैसे विषय प्रमुखता से उभरते हैं। उन्होंने साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन सामाजिक संदर्भों में किया और इसे यथार्थ के निकट लाने का प्रयास किया। उनकी आलोचना पद्धति में न केवल सैद्धांतिक गहराई है, बल्कि उसमें व्यावहारिक और सामाजिक सरोकारों की स्पष्ट झलक भी मिलती है। वे साहित्य को ''समाज की आत्मा'' मानते थे और उसमें उपस्थित विचारधारा, सामाजिक संदर्भ और मानवीय चेतना की पड़ताल करते थे।

शिवदान सिंह चौहान की प्रमुख कृतियाँ :

1. रक्तरंजित स्पेन (1938)

चौहान जी की पहली पुस्तक 'रक्तरंजित स्पेन' स्पेन के गृहयुद्ध पर आधारित है, जिसे उन्होंने भगत सिंह को समर्पित किया था। इसकी भूमिका पंडित नेहरू ने लिखी थी। इस पुस्तक में स्पेन के युद्ध को साम्राज्यवाद और फासीवाद के खिलाफ मानवता का युद्ध बताया गया है। लेखकों द्वारा युद्ध में कलम छोड़कर बंदूक उठाने की ऐतिहासिक घटनाओं को उजागर करते हुए चौहान ने इसे मार्क्सवादी विचारधारा की सफलता का प्रतीक माना।

2. प्रगतिवाद (1946)

इस पुस्तक में शिवदान सिंह चौहान ने प्रगतिवाद को वैज्ञानिक सौंदर्यशास्त्र के दायरे में रखते हुए इसकी वैचारिक नींव को स्पष्ट किया। उन्होंने बताया कि सन् 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ के गठन से भारतीय साहित्य में मार्क्सवादी विचारधारा मुखर हुई। उन्होंने साहित्य, कला, विज्ञान और समाज के परस्पर संबंधों की चर्चा करते हुए प्रगतिवाद के भीतर उत्पन्न चुनौतियों को रेखांकित

किया और इन समस्याओं पर गंभीर चिंतन प्रस्तुत किया।

3. साहित्य की परख (1948)

इस कृति में चौहान ने साहित्य में मूल्यांकन की वैज्ञानिक पद्धति की आवश्यकता पर बल दिया। उनके अनुसार, केवल आलोचक ही नहीं, बल्कि पाठक और श्रोता की भूमिका भी साहित्य की परख में महत्वपूर्ण है। वे पूर्वग्रहों से ग्रस्त मानसिकता को साहित्य में संकीर्णता और अवसरवाद का कारण मानते हैं और समन्वयवादी दृष्टिकोण के माध्यम से साहित्य के वैज्ञानिक मूल्यांकन की जरूरत पर जोर देते हैं। उन्होंने प्रगतिवाद को समन्वय की ओर ले जाने वाला आंदोलन बताया।

4. कश्मीर देश व संस्कृति (1949)

यह पुस्तक उनके कश्मीर प्रवास के दौरान लिखी गई थी। देश विभाजन के बाद पाकिस्तान द्वारा कश्मीर पर किए गए हमले के कारण फैली सामाजिक और राजनीतिक अस्थिरता के बीच चौहान जी ने सांस्कृतिक फ्रंट का संचालन किया। इस पुस्तक में कश्मीर की सांस्कृतिक विरासत, लोकगीतों और प्राकृतिक सौंदर्य का गहन वर्णन है। यह कृति सांस्कृतिक जागरूकता की मिसाल है और उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा 1951 में पुरस्कृत भी हुई थी।

5. हिंदी गद्य साहित्य

इस पुस्तक में चौहान ने गद्य की परंपरा और उसकी परिभाषा पर विमर्श किया। उन्होंने गद्य को केवल छंदहीन लेखन न मानकर उसे सजग, संयत और विचारशील साहित्यिक अभिव्यक्ति कहा। उनका मानना है कि गद्य वह है जो शब्द चयन, वाक्य विन्यास और विचार योजना की दृष्टि से गंभीर और अनुशासित हो। गद्य के माध्यम से वे हिंदी साहित्य की एक नई आलोचना दृष्टि को सामने लाते हैं।

6. हिंदी साहित्य का अस्सी वर्ष (1953, पुनर्प्रकाशन 2007)

यह कृति 1873 से 1953 तक के हिंदी साहित्य के विकास पर केंद्रित है। भारतेंदु युग से आधुनिक हिंदी साहित्य के स्वरूप तक के विकास को चौहान जी ने तार्किक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखा है। उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरागत पद्धतियों पर सवाल उठाए और साहित्य के आधुनिक इतिहास में खड़ी बोली, अवधी, ब्रज आदि भाषिक विविधताओं की उपेक्षा की आलोचना की। इस पुस्तक ने हिंदी साहित्येतिहास लेखन को एक

नई दृष्टि दी।

7. हिंदी साहित्य की समस्याएं (1959, पुनर्प्रकाशन 2002)

यह पुस्तक 1951 से 1955 तक लिखे गए निबंधों का संग्रह है, जिसमें चौहान ने साहित्य की मूलभूत समस्याओं पर विचार किया है। वे बताते हैं कि आजादी के बाद साहित्य के मूल्य और उसका उद्देश्य नए सिरे से परिभाषित करने की आवश्यकता है। उनके अनुसार आजादी और जनवाद ये दो मूल्य साहित्य के लिए सबसे अहम हैं। जनवाद को उन्होंने सामाजिक न्याय, समानता और सहयोग की भावना से जोड़ते हुए साहित्य के नव-निर्माण की आधारशिला माना।

8. आलोचना का मान (1958, पुनर्प्रकाशन 2002)

इस पुस्तक में चौहान जी ने आलोचना की भूमिका, उसके दायित्व और उसकी दिशा को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार आलोचना का कार्य केवल कृति के सौंदर्य को उजागर करना नहीं, बल्कि साहित्यकार को नई अंतर्दृष्टि देना भी है। वे आलोचना को वैज्ञानिक, वस्तुपरक और उदार दृष्टिकोण की ओर ले जाने की आवश्यकता पर बल देते हैं ताकि साहित्य का मूल्यांकन सार्थक और प्रमाणिक रूप में किया जा सके।

9. आलोचना के सिद्धांत (1960, पुनर्प्रकाशन 2001)

यह कृति साहित्य आलोचना के सिद्धांतों पर आधारित है, जिसकी बुनियादी दृष्टि मार्क्सवादी है। चौहान जी ने आलोचना के तीन सोपानों की चर्चा की है- व्यापक वैचारिक आधार, रूपवादी आलोचना से मुठभेड़ और यथार्थवादी मूल्य-निर्धारण। वे आलोचना को मूल्यग्रहण की प्रक्रिया मानते हैं, जो पाठकों को साहित्य में निहित मूल्यों के प्रति सजग बनाती है। इस पुस्तक में भारतीय और पश्चिमी आलोचना पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है और भारतीय काव्यशास्त्र की वस्तुपरकता की समस्या पर गहराई से चर्चा की गई है।

शिवदान सिंह चौहान का साहित्य और आलोचना दृष्टिकोण प्रगतिशील मूल्यों पर आधारित रहा। उन्होंने साहित्य को समाज से जोड़कर देखा और उसे सामाजिक परिवर्तन का उपकरण माना। उनके आलोचनात्मक लेखन में गहराई, वैज्ञानिकता, वस्तुपरकता और ऐतिहासिक चेतना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। उन्होंने साहित्य में विचारधारा, सौंदर्यशास्त्र, जनवाद और सामाजिक यथार्थ के संतुलन पर बल दिया। उनके अनुसार, आलोचना न केवल साहित्यिक कृतियों

की विवेचना है, बल्कि वह समाज को दिशा देने वाला बौद्धिक उपकरण भी है। शिवदान सिंह चौहान हिंदी साहित्य में एक ऐसे आलोचक और विचारक रहे हैं जिन्होंने साहित्य की वैचारिक, सामाजिक और सौंदर्यात्मक व्याख्या के लिए एक नई दृष्टि दी। उनके विचार आज भी हिंदी साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में प्रासंगिक हैं।

पत्रिका का संपादन :

शिवदान सिंह चौहान का संपादकीय कार्य हिंदी साहित्य में अत्यंत उल्लेखनीय है। उन्होंने 'कल्पना' नामक साहित्यिक पत्रिका का संपादन किया, जो 1950 के दशक में नई कविता, नई कहानी और वैचारिक विमर्श का मंच बनी। उन्होंने अनेक नए लेखकों को अवसर दिया और साहित्य में ताजगी, प्रयोगधर्मिता और वैचारिकता को स्थान दिलाया। 'कल्पना' का संपादन चौहान की दृष्टि, संपादकीय दृष्टिकोण और साहित्य के प्रति प्रतिबद्धता को दर्शाता है।इसके साथ ही निम्नलिखित पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया हैं-

1. प्रभा यह इलाहाबाद से प्रकाशित प्रगतिशील विचारधारा और लेखन का प्रथम हिंदी मासिक है जिसका प्रकाशन 1937-38 में हुआ था।

2. नया हिंदुस्तान यह इलाहाबाद से भूमिगत भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का हिंदी में प्रकाशित प्रथम साप्ताहिक मुख पत्र था जो 1938-39 में प्रकाशित हुआ। दूसरा महायुद्ध छिड़ने पर इसे जब्त कर लिया गया था।

3. हंस बनारस के महान उपन्यासकार प्रेमचंद द्वारा प्रकाशित और संपादित प्रमुख हिंदी मासिक पत्र था। हंस का, उनके निधन के कुछ वर्षों बाद 1940 के उत्तरार्द्ध से 1944 के पूर्वार्द्ध तक संपादन इन्होंने संपन्न किया था। इस अवधि में हंस केवल हिंदी ही नहीं, बल्कि अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखन का सबसे प्रतिष्ठित मुख-पत्र बन गया।

4. आलोचना (त्रैमासिक) राजकमल प्रकाशन के प्रमुख श्री ओमप्रकाश जी एवं साहित्यिक अभ्यार्थियों की मदद से हिंदी में उच्च स्तर की आलोचनात्मक त्रैमासिक पत्रिका का संपादन नवंबर 1951 से जनवरी 1953 तथा पुनः जुलाई 1963 से दिसंबर 1966 तक संपादक के तौर पर जुड़े रहे। इसका उद्देश्य हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन एवं हिंदी आलोचना की प्रगतिशीलता में प्रमुख अवदान रहा।

5. Socialist World Perspective (अंग्रेजी त्रैमासिक) यह अंग्रेजी त्रैमासिक पत्रिका अंग्रेजी में त्रैमासिक थी और 1976 से 1980 तक शिवदान सिंह चौहान इसके संपादक रहे।

निबंध और विचारधारा :

उनके निबंधों में सामाजिक चेतना और वैचारिक स्पष्टता मिलती है। वे किसी वाद के अंध समर्थक नहीं थे, बल्कि तर्क और विवेक के आधार पर साहित्य की समीक्षा करते थे। उनकी विचारधारा में मानवतावाद, यथार्थवाद और प्रगतिशीलता के तत्व स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं।

वे यह मानते थे कि एक सच्चा साहित्यकार वही है जो समाज के वंचितों, पीड़ितों और शोषितों की आवाज बन सके। उन्होंने परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व को समझते हुए साहित्य में संतुलन और सार्थकता की आवश्यकता पर बल दिया।



महत्वपूर्ण बिंदु

शिवदान सिंह चौहान के अनुसार, साहित्य में सौंदर्यशास्त्र केवल शाश्वत आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित नहीं होना चाहिए, बल्कि एक वैज्ञानिक और भौतिकवादी दृष्टिकोण आवश्यक है। वे मानते हैं कि साहित्य और कला, सत्य की खोज में मानव की बौद्धिक एवं आध्यात्मिक चेष्टा के दो रूप हैं। प्रगतिवाद को वे किसी एक साहित्यिक धारा के रूप में नहीं, बल्कि एक दृष्टिकोण के रूप में देखते हैं, जैसा कि रस सिद्धांत प्राचीन आध्यात्मिक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करता है। वे पारंपरिक आलोचना पद्धतियों को सीमित मानते हैं और समयानुकूल वैज्ञानिक सौंदर्यदृष्टि की आवश्यकता पर बल देते हैं।

10.4 शिवदान सिंह चौहान की सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना दृष्टि

क) सैद्धांतिक आलोचना :

शिवदान सिंह चौहान का सैद्धान्तिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण मुख्यत: प्रगतिशील विचारधारा पर आधारित था, जिसमें साहित्य को समाज और जनता

से जोड़कर देखने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। उन्होंने साहित्य को केवल सौंदर्य का माध्यम न मानकर, सामाजिक यथार्थ और परिवर्तन का औजार माना। उनकी आलोचना का उद्देश्य मात्र सैद्धांतिक विमर्श तक सीमित नहीं था, बल्कि वे एक ऐसी व्यावहारिक आलोचना विकसित करना चाहते थे जो साहित्य के मूल्यांकन में वास्तविकता, समग्रता और स्पष्टता को अपनाए।चौहान का मानना था कि आलोचना में विचारधारा के प्रति ईमानदारी होनी चाहिए, और उन्होंने प्रगतिशीलता के प्रति इस निष्ठा को जीवनभर निभाया। संकीर्ण मतवाद से असहमति के बावजूद उन्होंने कभी अपने मूल विचारों से समझौता नहीं किया।प्रगतिशील लेखक संघ से उनका गहरा संबंध रहा, और 'हंस' व 'आलोचना' जैसी पत्रिकाओं के जरिए उन्होंने प्रगतिशील साहित्य को व्यापक मंच प्रदान किया।

संक्षेप में, चौहान की आलोचना सामाजिक संदर्भों से गहरे रूप में जुड़ी हुई थी, जो न केवल साहित्य को समझने का नया दृष्टिकोण देती है, बल्कि उसे जनजीवन के यथार्थ से जोड़कर भी देखती है।

ख) व्यावहारिक आलोचना

शिवदान सिंह चौहान की व्यावहारिक आलोचना साहित्य और साहित्यकार की सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित होती है। उन्होंने आलोचना को केवल सैद्धांतिक विमर्श न मानकर उसे साहित्यिक संवाद और सहचिंतन का माध्यम माना। विष्णु चंद्र शर्मा के अनुसार, चौहान के लिए आलोचना का उद्देश्य श्रेष्ठ साहित्य की पहचान और कमजोर रचनाओं की परख कर उनमें सुधार का प्रयास रहा है। वे आलोचना में व्यक्तिगत रुचि या पूर्वग्रह को अस्वीकार करते हुए वस्तुनिष्ठता के पक्षधर हैं। उनकी दृष्टि में आलोचना का केंद्र सत्य, विवेक और मनुष्यता होना चाहिए। वे कलाकृति के मूल्यांकन में लेखक की जाति, विचारधारा या ख्याति को महत्व नहीं देते, बल्कि रचना में अभिव्यक्त जीवन-यथार्थ को प्रमुख मानते हैं। उन्होंने आलोचना की संकीर्णताओं, जड़ीभूत सौंदर्यबोध और गुटबाज़ी का विरोध करते हुए आलोचना को सार्थक दिशा देने का प्रयास किया।

शिवदान सिंह चौहान ने आलोचक की भूमिका को 'साहित्य मंदिर का द्वारपाल' माना, जो पाठकों के सौंदर्यबोध और जीवनबोध को विकसित करे,

न कि ज्ञान का प्रदर्शन। उनकी आलोचना का श्रेष्ठ उदाहरण सुमित्रानंदन पंत और फणीश्वरनाथ रेणु के कृतित्व का मूल्यांकन है। वे पंत की कविताओं में नवीन मानवता और समतामूलक समाज की कल्पना देखते हैं, वहीं 'मैला आँचल' को स्वतंत्र भारत का यथार्थवादी महाकाव्य मानते हैं। इस प्रकार चौहान की आलोचना यथार्थ, विवेक और साहित्यिक नैतिकता की पक्षधर है।

10.5 शिवदान सिंह आलोचनात्मक दृष्टि की विशेषताएँ :

हिंदी आलोचना के इतिहास में शिवदान सिंह चौहान का नाम अत्यंत सम्मान और गम्भीरता के साथ लिया जाता है। वे न केवल साहित्य के एक सजग समीक्षक थे, बल्कि एक चिंतनशील विचारक और प्रगतिशील दृष्टिकोण के वाहक भी थे। हिंदी आलोचना को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण देने में उनका विशेष योगदान रहा है। उन्होंने साहित्य को केवल कलात्मक या सौंदर्यपरक दृष्टि से नहीं देखा, बल्कि उसे सामाजिक यथार्थ के धरातल पर समझने और समझाने की कोशिश की। इस लेख में हम उनकी आलोचना-दृष्टि का समग्र मूल्यांकन प्रस्तुत करेंगे।

1. आलोचना का सामाजिक सरोकार

शिवदान सिंह चौहान की आलोचना-दृष्टि का मूल केंद्र सामाजिक यथार्थ है। वे मानते थे कि साहित्य समाज से कटकर नहीं रह सकता, और साहित्य की आलोचना तब तक अधूरी है जब तक वह समाज के गहरे सवालों से नहीं जुड़ती। उन्होंने साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का साधन माना और आलोचना को उस परिवर्तन के विश्लेषण का औजार। उनके अनुसार, ''साहित्य को उसकी सामाजिक भूमिका से अलग करके केवल कला या भावनात्मक मूल्यांकन के आधार पर देखना अधूरा दृष्टिकोण है।''

चौहान ने साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करते समय उस युग, वर्ग, समाज और परिस्थितियों को ध्यान में रखा जिनमें वह रचना उत्पन्न हुई। वे यह मानते थे कि साहित्य समाज की चेतना का दर्पण होता है, और उसकी व्याख्या भी सामाजिक संदर्भों में ही सार्थक होती है।

2. मार्क्सवादी दृष्टिकोण का समावेश

चौहान की आलोचना दृष्टि पर मार्क्सवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है, परंतु उन्होंने इस दृष्टिकोण को आंख मूंदकर नहीं अपनाया। उन्होंने मार्क्सवादी सोच को एक वैचारिक आधार की तरह स्वीकार किया, लेकिन उसमें विवेक, तर्क और आलोचनात्मक सोच का समावेश किया।

वे साहित्य में वर्ग-संघर्ष, आर्थिक विषमता, सामाजिक शोषण, और सत्ता संरचनाओं के विश्लेषण को आवश्यक मानते थे। उनकी मान्यता थी कि साहित्य में उपस्थित विचारधारा को समझे बिना उसकी गहराई को नहीं समझा जा सकता। उन्होंने आलोचना को वैचारिक संलग्नता से जोड़ते हुए उसमें मानवीय दृष्टिकोण को प्राथमिकता दी।

चौहान ने अपनी कृति ''साहित्य और समाज'' में लिखा है- ''हम आलोचना को तब तक सार्थक नहीं कह सकते जब तक वह साहित्य में छिपी विचारधारा और सामाजिक अंतर्धाराओं की पहचान न कर सके।''

3. विचारधारा और विवेक का संतुलन

शिवदान सिंह चौहान की आलोचना-दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे विचारधारा को महत्वपूर्ण मानते थे, लेकिन विवेक को कभी नहीं त्यागते थे। वे किसी भी वाद या विचारधारा के कट्टर समर्थक नहीं थे। उनकी आलोचना में तर्कशीलता, संतुलन और वस्तुनिष्ठता का समावेश है।

वे यह मानते थे कि विचारधारा केवल दृष्टिकोण प्रदान कर सकती है, लेकिन आलोचक का मुख्य कार्य उस दृष्टिकोण को साहित्यिक वस्तु पर प्रयोग कर उसके प्रभाव और सीमा को आंकना है। उनके लिए आलोचना कोई जड़ प्रक्रिया नहीं, बल्कि एक जीवंत बौद्धिक गतिविधि थी जो निरंतर आत्मपरीक्षण और विचार-विमर्श की मांग करती है।

4. प्रगतिशीलता की स्पष्ट समझ

चौहान स्पष्ट रूप से प्रगतिशील आलोचक थे, लेकिन उनकी प्रगतिशीलता किसी राजनीतिक नारों तक सीमित नहीं थी। वे प्रगतिशीलता को मानवता, सामाजिक न्याय और यथार्थ के गहरे सरोकारों से जोड़कर देखते थे। उनके अनुसार, प्रगतिशील साहित्य वही है जो व्यक्ति और समाज के बीच द्वंद्व को रचनात्मक रूप में प्रस्तुत करे और उसमें परिवर्तन की चेतना हो।

उन्होंने समकालीन लेखकों को प्रेरित किया कि वे साहित्य को केवल आत्माभिव्यक्ति या सौंदर्याभिव्यक्ति तक सीमित न रखें, बल्कि उसे सामाजिक प्रश्नों का वाहक बनाएं। उनकी आलोचना ने नई कविता और नई कहानी के सामाजिक संदर्भों को उजागर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

5. नई प्रवृत्तियों का स्वागत और मूल्यांकन

शिवदान सिंह चौहान ने समकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों जैसेनई कविता, नई कहानी, प्रयोगवाद, औरअज्ञेयके प्रयोगों को गंभीरता से लिया और उनका निष्पक्ष मूल्यांकन किया। वे परंपरा और आधुनिकता के बीच संतुलन बनाने की पक्षधरता रखते थे।

चौहान मानते थे कि साहित्य में परिवर्तन स्वाभाविक है, लेकिन यह परिवर्तन तभी सार्थक होता है जब उसमें समाज के प्रति उत्तरदायित्व की भावना हो। उन्होंने नई कविता में आए अस्तित्ववाद, व्यक्ति-केंद्रितता, और आत्मसंघर्ष को गंभीर सामाजिक और दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में देखा।



अपनी प्रगति जाँचें

प्रश्न संख्या 1. शिवदान सिंह चौहान ने किस पत्रिका का संपादन किया था?

प्रश्न संख्या 2. शिवदान सिंह चौहान के आलोचना में निहित मार्क्सवादी दृष्टिकोणों पर चर्चा कीजिए?

प्रश्न संख्या 3. 'कश्मीर देश व संस्कृति' कृति के लिए कब-किसने शिवदान सिंह चौहान को सम्मानित किया था?

प्रश्न संख्या 4. 'साहित्य और समाज' कृति में किस विषय को प्रमुखता दी गई है?

प्रश्न संख्या 5. 'हिंदी गद्य साहित्य' कृति की आलोच्य विषय क्या है?

6. संपादन और आलोचना का संबंध

शिवदान सिंह चौहान का आलोचनात्मक योगदान केवल लेखन तक सीमित नहीं था, बल्कि उन्होंने कल्पना जैसी महत्वपूर्ण पत्रिका का संपादन कर हिंदी साहित्य को वैचारिक मंच प्रदान किया। 'कल्पना' का संपादन उन्होंने केवल लेखकों और कृतियों के चयन तक सीमित नहीं रखा, बल्कि वह

साहित्यिक प्रवृत्तियों की आलोचना और दिशा निर्धारण का मंच बनी।

उन्होंने अनेक युवा और उभरते हुए लेखकों को न केवल मंच दिया, बल्कि उन्हें साहित्य की सामाजिक भूमिका का बोध भी कराया। चौहान का संपादकीय कार्य उनकी आलोचना-दृष्टि का व्यवहारिक पक्ष था, जिससे उनकी विचारधारा जनसाधारण और लेखकों दोनों तक पहुँच सकी।

7. आलोचना का वैश्विक दृष्टिकोण

चौहान की आलोचना दृष्टि केवल हिंदी या भारतीय साहित्य तक सीमित नहीं थी। उन्होंने पाश्चात्य साहित्य, दर्शन और समाजशास्त्र का गहरा अध्ययन किया था। उन्होंने तुलनात्मक अध्ययन को महत्व दिया और हिंदी आलोचना को अंतरराष्ट्रीय संदर्भों से जोड़ने की कोशिश की।

उनकी रचनाओं में टॉलस्टॉय, गोर्की, शेक्सपियर, मार्क्स, एंगेल्स जैसे पश्चिमी विचारकों और साहित्यकारों की चर्चा मिलती है, जिसे वे भारतीय संदर्भों में समझने और समझाने का प्रयास करते हैं।

8. प्रमुख आलोचनात्मक कृतियाँ

चौहान की कुछ प्रमुख आलोचनात्मक कृतियाँ निम्नलिखित हैं :

- साहित्य और समाज-साहित्य और सामाजिक यथार्थ का गहरा विश्लेषण।
- आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ-आधुनिक साहित्य के विविध आयामों की विवेचना।
- भारतीय साहित्य का इतिहास- साहित्यिक परंपराओं का समाजशास्त्रीय विवेचन।

इन कृतियों में चौहान की आलोचना-दृष्टि का व्यापक स्वरूप प्रकट होता है, जिसमें साहित्य, समाज, विचारधारा और संस्कृति का अंत:संबंध स्पष्ट होता है।



10.6 सारांश

शिवदान सिंह चौहान हिंदी आलोचना के इतिहास में एक ऐसे साहित्यकार के रूप में स्थापित हैं, जिन्होंने साहित्य को केवल कलात्मक या भावनात्मक स्तर पर नहीं, बल्कि सामाजिक, वैचारिक और यथार्थवादी धरातल पर विश्लेषित

करने का आग्रह किया। उन्होंने आलोचना को एक जीवंत बौद्धिक कर्म मानते हुए उसे केवल शैक्षणिक अभ्यास की सीमाओं में न बांधकर एक सामाजिक-वैचारिक जिम्मेदारी के रूप में देखा। उनके अनुसार, आलोचक का कार्य केवल साहित्य की सराहना करना नहीं, बल्कि उसमें छिपी सामाजिक सच्चाइयों को उद्घाटित करना भी है। यही कारण है कि वे आलोचक को ''साहित्य का विवेक'' मानते थे—ऐसा विवेक जो रचना के भीतर गहरे तक जाकर निहितार्थों और अंतर्धाराओं को उजागर कर सके।

शिवदान सिंह चौहान की आलोचना दृष्टि विचार और विवेक का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत करती है। वे विचारधारा के समर्थक थे, परंतु विचारधारा के अंधसमर्थक नहीं। उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टिकोण को एक आलोचनात्मक औजार की तरह अपनाया, लेकिन उसमें विवेक और तार्किकता का समुचित समावेश किया। वे यह भली-भांति समझते थे कि आलोचना यदि विचारधारा की कैदी बन जाए, तो वह साहित्य की स्वतंत्र चेतना और रचनात्मकता को नहीं समझ पाएगी। इसलिए उन्होंने वैचारिक विश्लेषण के साथ-साथ मानवीय मूल्यबोध और संवेदनशीलता को भी अपनी आलोचना का आधार बनाया।

चौहान की आलोचना में जो सबसे महत्वपूर्ण विशेषता दिखाई देती है, वह है उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता। वे साहित्य को सामाजिक परिवर्तन और जनचेतना के संवाहक के रूप में देखते थे। उनके लिए साहित्य का उद्देश्य केवल सौंदर्य का सृजन नहीं, बल्कि समाज में निहित विषमता, अन्याय और शोषण की स्थितियों की पहचान कर उन्हें रचनात्मक ढंग से प्रस्तुत करना भी था। उन्होंने बार-बार इस बात पर बल दिया कि आलोचना तभी सार्थक है जब वह साहित्य को समाज के व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर मूल्यांकित करे।

प्रगतिशीलता और नवीनता के प्रति उनकी दृष्टि संतुलित और विवेकशील थी। उन्होंने 'नई कविता', 'नई कहानी', 'प्रयोगवाद' जैसी साहित्यिक प्रवृत्तियों का न केवल स्वागत किया, बल्कि उन्हें गंभीरता से समझने और उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि को विश्लेषित करने का कार्य भी किया। वे आधुनिकता के विरोधी नहीं थे, परंतु अराजकता और निरर्थक बौद्धिकता के भी आलोचक थे। वे स्पष्ट रूप से मानते थे कि साहित्य में नवीनता तभी सार्थक है जब वह समाज और व्यक्ति के जीवन से गहरे रूप में जुड़ी हो।

संपादक के रूप में उन्होंनेकल्पनापत्रिका के माध्यम से हिंदी आलोचना

को एक नया बौद्धिक मंच प्रदान किया, जहाँ उन्होंने न केवल समकालीन रचनाकारों और विचारों को स्थान दिया, बल्कि आलोचना को भी एक जीवंत संवाद का माध्यम बनाया। इस पत्रिका के माध्यम से चौहान ने हिंदी साहित्य में एक बहसधर्मी और विचारशील वातावरण को जन्म दिया, जो हिंदी आलोचना की परंपरा के लिए मील का पत्थर सिद्ध हुआ।

उनका जीवन और साहित्य दोनों ही इस बात का प्रमाण हैं कि वे केवल एक साहित्यकार नहीं, बल्कि एक जागरूक नागरिक, विचारशील चिंतक और समाज के प्रति संवेदनशील रचनाकार थे। उन्होंने न केवल साहित्य की आत्मा को पहचाना, बल्कि उसमें समय और समाज की धड़कनों को भी महसूस किया। उनका लेखन इस बात का गवाह है कि साहित्य, जब विचार और विवेक के साथ सामाजिक सरोकारों से जुड़ता है, तो वह केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बन जाता है।

अत: यह कहा जा सकता है कि शिवदान सिंह चौहान की आलोचना दृष्टि हिंदी साहित्य को विचार, विवेक और समाज की त्रिधारा में प्रवाहित करने वाली एक सशक्त धारा रही है। उन्होंने आलोचना को न केवल एक वैचारिक अनुशासन बनाया, बल्कि उसे सामाजिक परिवर्तन का सहयात्री भी बनाया। उनके विचार, उनकी दृष्टि और उनका साहित्यिक योगदान आज भी प्रासंगिक है और भविष्य में भी हिंदी आलोचना को दिशा देता रहेगा। हिंदी साहित्य के इतिहास में उनका नाम सदैव आदर और सम्मान के साथ लिया जाता रहेगा।

10.7 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

प्रश्न संख्या 1. का उत्तर : कल्पना।

प्रश्न संख्या 2. का उत्तर : पाने के लिए इकाई को ध्यान से पढ़े।

प्रश्न संख्या 3. का उत्तर : उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा सन् 1951 में सम्मानित किया था।

प्रश्न संख्या 4. का उत्तर : साहित्य और सामाजिक यथार्थ का गहरा विश्लेषण।

प्रश्न संख्या 5.का उत्तर : के लिए इकाई को ध्यान से पढ़ें।



10.8 अधिक जानने के लिए पढ़े

- चौहान, शिवदान सिंह,साहित्य और समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1950
- चौहान, शिवदान सिंह, आधुनिक हिंदी साहित्य में रुझान, 1960, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
- चौहान, शिवदान सिंह, भारतीय साहित्य का इतिहास, 1960, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
- चौहान, शिवदान सिंह, आलोचना और समय, 1965, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
- चौहान, शिवदान सिंह, साहित्य विचार और आलोचना, 1972, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
- चौहान, शिवदान सिंह(सं), कल्पना (पत्रिका)-विभिन्न अंक, 1954-1965, कल्पना पत्रिका, हैदराबाद
- चौहान,शिवदान सिंह, परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए, विश्वंभरनाथ शर्मा (संपा.), वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण : 1999
- चौहान, शिवदान सिंह, भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता, अमरेंद्र त्रिपाठी (संपा.), अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लि., दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2013
- चौहान, शिवदान सिंह, साहित्यानुशीलन, विष्णुचंद्र शर्मा (संपा.), स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण : 2004
- चौहान, शिवदान सिंह, आलोचना के सिद्धांत, विष्णुचंद्र शर्मा (संपा.), स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण : 2001

10.9 अभ्यास प्रश्न

क) संक्षिप्त पश्नों के उत्तर लिखिए :

1. शिवदान सिंह चौहान किस प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका के संपादक रहे हैं?
2. शिवदान सिंह चौहान की आलोचना दृष्टि किस विचारधारा से प्रभावित रही है?

3. 'साहित्य और समाज' पुस्तक के लेखक कौन हैं?
4. 'हिंदी साहित्य का अस्सी वर्ष' कृति का आलोच्य विषय क्या है?
5. शिवदान सिंह चौहान की विचारधारा और विवेक में निहित प्रमुख बिंदु क्या है?

ख) निम्नलिखित पश्नों का उत्तर लिखिए :

1. शिवदान सिंह चौहान की आलोचना दृष्टि में 'साहित्य का विवेक' क्या है? उनके दृष्टिकोण का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करें।
2. शिवदान सिंह चौहान ने हिंदी आलोचना को किस प्रकार समाज और विचारधारा से जोड़ा? उनके प्रमुख आलोचनात्मक ग्रंथों के आधार पर समझाइए।
3. 'कल्पना' पत्रिका के माध्यम से शिवदान सिंह चौहान ने हिंदी साहित्यिक संवाद को किस प्रकार नई दिशा दी? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
4. 'हिंदी साहित्य का अस्सी वर्ष' कृति का आलोच्य विषय क्या है?
5. शिवदान सिंह चौहान की विचारधारा और विवेक में निहित प्रमुख बिंदु क्या है?

******

इकाई 11 स्त्री विमर्श

इकाई की रूपरेखा

11.1 उद्देश्य

11.2 प्रस्तावना

11.3 स्त्री विमर्श की अवधारण

11.4 पश्चिमी तथा भारतीय सन्दर्भ में स्त्री विमर्श

11.5 स्वरुप और विकास

11.6 हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श और नारी अस्मिता

11.7 सारांश

11.8 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

11.9 अधिक जानने के लिए पढ़ें

11.10 अभ्यास प्रश्न

11.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप

- स्त्री विमर्श की अवधारानाओं के बारे में जान पाएंगे।
- इससे संबंधित विभिन्न दृष्टिकोणों से अवगत हो पाएंगे।
- स्त्री विमर्श के स्वरुप और विकास को समझ पाएंगे।
- हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श और नारी अस्मिता के विषय ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- पश्चिमी और भारतीय सन्दर्भ में स्त्री विमर्श के बारे में जानने में सक्षम होंग।

11.2 प्रस्तावना

स्त्री शब्द का सामान्य अर्थ है–नारी, महिला या औरत। वहीं, 'विमर्श' शब्द संस्कृत की 'मृश' धातु से व्युत्पन्न है, जिसमें 'वि' उपसर्ग और 'घञ्' प्रत्यय जुड़कर यह शब्द बनता है। यह शब्द व्यापक अर्थ में विचार, समीक्षा, विश्लेषण, आलोचना तथा परीक्षण की क्रिया को दर्शाता है। अत: जब इन दोनों

शब्दों को जोड़ा जाता है तो 'स्त्री विमर्श' का निर्माण होता है। 'स्त्री विमर्श' का आशय है-स्त्रियों से जुड़े मुद्दों, स्थितियों और अनुभवों पर गंभीर मंथन, विचार-विनिमय और गहन विश्लेषण की प्रक्रिया। यह केवल चर्चा या बहस नहीं, बल्कि स्त्रियों की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति को समझने तथा उसे सुधारने की चेष्टा है।

'नारी विमर्श' भी इसी प्रकार का शब्द है, जिसमें 'नारी' अर्थात् स्त्री और 'विमर्श' का अर्थ विचार-विमर्श, बहस, चिंतन आदि है। नारी विमर्श का उद्देश्य होता है- नारी के अस्तित्व, समाज में उसके स्थान, भूमिका और अधिकारों को लेकर विचार करना, तर्कपूर्ण ढंग से उसकी स्थिति का मूल्यांकन करना। 'विमर्श' की प्रक्रिया में किसी विषय को केवल एक दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि विभिन्न मानसिकताओं, दृष्टिकोणों, अनुभवों और विचारधाराओं के माध्यम से देखा-समझा जाता है। इस प्रक्रिया में प्रश्न पूछे जाते हैं, उनके औचित्य पर विचार होता है और उस विषय को समग्रता में देखने का प्रयास किया जाता है। यह विश्लेषण व्यक्तिगत स्तर पर भी हो सकता है और सामूहिक रूप से भी। जैसा कि लेखिका रोहिणी अग्रवाल कहती हैं-''किसी भी स्थिति या समस्या को एकतरफा नहीं, बल्कि विविध दृष्टिकोणों, विचारों और संदर्भों से देखकर उसका समग्र विश्लेषण करना और फिर मानवीय दृष्टिकोण से निष्कर्ष निकालना ही विमर्श की असली प्रक्रिया है।'' इस प्रकार, 'स्त्री विमश' नारी से जुड़े मुद्दों पर गहराई से सोचने-समझने, विश्लेषण करने और एक व्यापक सामाजिक संदर्भ में उन्हें देखने का कार्य करता है। यह केवल विमर्श नहीं, बल्कि एक विचारात्मक आंदोलन भी है।

समकालीन सामाजिक और बौद्धिक विमर्शों में स्त्री विमर्श एक ऐसी अवधारणा के रूप में सामने आया है, जो नारी के जीवन, अनुभवों और अस्तित्व के बहुस्तरीय पक्षों की पड़ताल करता है। यह विमर्श केवल स्त्री जीवन की पीड़ा का लेखा-जोखा नहीं है, बल्कि उससे कहीं अधिक एक वैचारिक आंदोलन है, जो सामाजिक संरचनाओं, सांस्कृतिक प्रतीकों और सत्ता-सम्बंधों को पुनर्परिभाषित करने का प्रयास करता है। स्त्री विमर्श का मूल स्वर सामाजिक न्याय और लैंगिक समानता की स्थापना में निहित है, जहाँ स्त्री को एक स्वतंत्र, आत्मनिर्भर और निर्णयक्षम व्यक्ति के रूप में स्वीकारा जाता है।

यह विमर्श समाज में व्याप्त उन स्थायी मान्यताओं को चुनौती देता है, जो स्त्री की भूमिका को सीमित कर देती हैं। पितृसत्ता, लिंग भेद, सांस्कृतिक पूर्वग्रह और यौनिक नियंत्रण जैसे मुद्दे इसकी समीक्षा के केंद्र में होते हैं। स्त्री विमर्श का उद्देश्य केवल पुरुष-विरोध नहीं है, बल्कि एक ऐसे समाज की परिकल्पना है जहाँ सभी को समान अवसर, सम्मान और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्राप्त हो।

इतिहास के विभिन्न कालखंडों में यह विमर्श नए आयामों के साथ उभरा है— कभी अधिकारों के संघर्ष के रूप में, कभी अस्मिता की खोज के रूप में, और कभी अपनी देह व अस्तित्व के नियंत्रण के लिए प्रतिरोध के रूप में। आज यह विमर्श केवल मुख्यधारा की महिलाओं तक सीमित नहीं रहा, बल्कि दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक और क्वीयर स्त्रियों की आवाज़ें भी इसमें शामिल हो चुकी हैं।

11.3 स्त्री विमर्श की अवधारण

स्त्री विमर्श (Feminist Discourse) आधुनिक साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विमर्शों में एक सशक्त और केंद्रीय विषय के रूप में उभरा है। यह नारी की स्थिति, अस्मिता, अनुभव और संघर्षों को केन्द्र में रखकर समाज की संरचना, पितृसत्ता और सत्ता-सम्बंधों की पड़ताल करता है। स्त्री विमर्श केवल स्त्रियों के अधिकारों या उनकी दुर्दशा की चर्चा मात्र नहीं है, बल्कि यह एक समग्र सामाजिक चेतना और परिवर्तन की प्रक्रिया है जो व्यक्ति, समाज और संस्कृति के विविध पक्षों को प्रभावित करती है। इस लेख में स्त्री विमर्श की प्रमुख अवधारणाओं का विवेचन किया जाएगा।

1. पितृसत्ता

स्त्री विमर्श की सबसे मूलभूत अवधारणा है- पितृसत्ता। यह वह सामाजिक व्यवस्था है जिसमें पुरुष को परिवार, समाज और संस्कृति में प्रधानता प्राप्त है और स्त्री को अधीनस्थ माना जाता है। पितृसत्ता केवल जैविक भिन्नताओं पर आधारित नहीं है, बल्कि यह सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक Conditioning से निर्मित होती है। इसमें स्त्रियों की भूमिकाएँ सीमित कर दी जाती हैं- जैसे एक अच्छी माँ, पत्नी या पुत्री के रूप में- और उनकी स्वतंत्रता को नियंत्रित किया जाता है। स्त्री विमर्श इस व्यवस्था को चुनौती देता है और लैंगिक समानता की माँग करता है।

2. देह और यौनिकता

स्त्री विमर्श स्त्री देह की अवधारणा पर भी गंभीर सवाल खड़े करता है। स्त्री की देह को लंबे समय तक वस्तु के रूप में देखा गया— एक ऐसा माध्यम जो पुरुष की कामुकता और इच्छाओं की पूर्ति का साधन मात्र है। विज्ञापन, सिनेमा और साहित्य में स्त्री शरीर को जिस प्रकार उपभोग की वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया गया, वह यौनिकता पर नियंत्रण के पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण को दर्शाता है। स्त्री विमर्श यह दावा करता है कि स्त्री को अपनी देह और यौनिकता पर स्वायत्तता का अधिकार होना चाहिए। यह दृष्टिकोण 'बॉडी पॉजिटिविटी' और 'सेल्फ एक्सप्रेशन' की वकालत करता है।

3. अस्मिता

स्त्री की अस्मिता को पुरुष की अपेक्षाओं और सामाजिक भूमिकाओं के आधार पर गढ़ा गया। ''अच्छी स्त्री'' की छवि वह है जो त्याग, सहनशीलता और सेवा का प्रतीक हो। स्त्री विमर्श इस पूर्वनिर्धारित अस्मिता को तोड़ता है और स्त्री को स्वतंत्र, आत्मनिर्भर, निर्णयक्षम और स्वत्व-संपन्न व्यक्ति के रूप में देखने की दृष्टि प्रदान करता है। यह विमर्श स्त्री की बहुलतावादी अस्मिताओं की भी बात करता है-जैसे कि जाति, वर्ग, धर्म, नस्ल और यौनिक पहचान के आधार पर विविध स्त्री अनुभव।

4. अनुभव की केन्द्रीयता

स्त्री विमर्श में ''अनुभव'' को सैद्धांतिक आधार के रूप में अत्यधिक महत्व दिया गया है। स्त्री के जीवन के व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और कार्यक्षेत्र के अनुभवों को उसके सामाजिक यथार्थ की व्याख्या का आधार बनाया गया। सिमोन द बोउवार से लेकर महाश्वेता देवी तक, स्त्री लेखन में स्त्रियों के अपने अनुभवों की साक्षी के रूप में रचनाएँ सामने आईं। यह दृष्टिकोण 'the personal is political' के सिद्धांत को पुष्ट करता है।

5. प्रतिरोध और सबाल्टर्न चेतना

स्त्री विमर्श केवल उत्पीड़न की व्याख्या तक सीमित नहीं है; यह प्रतिरोध और बदलाव की चेतना को भी उजागर करता है। स्त्री केवल उत्पीड़ित नहीं है; वह विद्रोही भी है। वह सवाल उठाती है, संरचनाओं को चुनौती देती है और

परिवर्तन की दिशा में कदम बढ़ाती है। दलित स्त्री विमर्श, आदिवासी स्त्री लेखन और क्वीयर विमर्श ङ्क सभी एक तरह से 'मुख्यधारा स्त्री विमर्श' से भिन्न धारा में प्रतिरोध की आवाज़ें हैं, जो यह दिखाती हैं कि स्त्री संघर्ष एकरूप नहीं है बल्कि बहुस्तरीय है।

6. साहित्य में स्त्री विमर्श

हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श की उपस्थिति विशेष रूप से 1980 के दशक के बाद तीव्र हुई। मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, अनामिका आदि लेखिकाओं ने स्त्री की यथार्थ परिस्थितियों को साहित्य में प्रमुखता दी। इनकी रचनाएँ न केवल स्त्री की मानसिकता और संघर्षों को उजागर करती हैं, बल्कि वे पितृसत्तात्मक सोच के भीतर दरार भी पैदा करती हैं।

11. 4 पश्चिमी तथा भारतीय सन्दर्भ में स्त्री विमर्श :

विश्व की कुल जनसंख्या का आधा हिस्सा स्त्रियाँ हैं, परंतु सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में उनके साथ समानता का व्यवहार नहीं हुआ है। यद्यपि देशों और संस्कृतियों में भिन्नताएँ रही हैं, परंतु स्त्री की स्थिति प्राय: हर जगह उपेक्षित और शोषण की रही है। विशेष रूप से पश्चिमी देशों में प्रारंभिक काल से ही स्त्रियों को दमन और भोग की वस्तु के रूप में देखा गया। प्राचीन यूनान जिसे पश्चिमी सभ्यता की जननी माना जाता है, वहाँ भी स्त्रियों की भूमिका सीमित, दोयम दर्जे की और अधीनस्थ रही। आरंभिक विचारकों जैसे अरस्तु ने स्त्रियों को ''अधूरी'' या ''अल्पगुणी'' प्रजाति बताया और उन्हें पुरुष की तुलना में कमतर ठहराया।

पश्चिम के मिथकीय और साहित्यिक इतिहास में स्त्रियों को कभी देवी के रूप में पूज्य बना दिया गया, तो कभी युद्ध की लूट अथवा उपहार की वस्तु के रूप में चित्रित किया गया। वीरों और विजेताओं के लिए युवतियाँ केवल एक आकर्षण या पुरस्कार थीं, जिन पर उनका अधिकार युद्ध जीतने के साथ स्वाभाविक रूप से मान लिया जाता था। ऐसी पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री को स्वतंत्र पहचान या निर्णय लेने का अधिकार नहीं था। उसका अस्तित्व पुरुष के संदर्भ में ही परिभाषित किया जाता रहा।डॉ. अमरनाथ के अनुसार, जैसे-

जैसे पश्चिमी समाज वीरकाल की ओर बढ़ा, स्त्रियों की स्थिति और भी दयनीय होती चली गई। धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थानों ने भी स्त्री की छवि को नियंत्रित किया और उसे पुरुष-निर्मित मानकों में बाँधने का प्रयास किया। यदि दया आई तो स्त्री देवी बनी, अन्यथा उसे वस्तु, सम्पत्ति या केवल भोग्या की दृष्टि से देखा गया। यही मानसिकता साहित्य और संस्कृति में भी परिलक्षित होती रही-स्त्री प्रेरणादायक शब्दों की सजावट तो बनी, पर वास्तविकता में वह मौन, निर्बल और पराधीन रही।

हालांकि, पश्चिम में वैज्ञानिक विकास और बौद्धिक क्रांतियों के कारण सामाजिक चेतना में धीरे-धीरे बदलाव आया। यूरोपीय पुनर्जागरण और औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप स्त्रियाँ भी अपनी यथार्थ स्थिति को समझने लगीं और अपने अधिकारों के लिए आवाज़ उठाने लगीं। इसी चेतना ने ''नारी मुक्ति आंदोलन'' को जन्म दिया, जो पुरुषों द्वारा बनाये गए असमान कानूनों और परंपराओं के विरुद्ध एक सामाजिक क्रांति बनकर उभरा।

19वीं शताब्दी में पश्चिम में स्त्री आंदोलन का स्वरूप अधिक संगठित हुआ। अलेक्जेंडर दुमास ने सबसे पहले ''फेमिनिज्म'' शब्द का प्रयोग किया। मेरी वोल्स्टनक्राफ्ट की पुस्तक '' A Vindication of the Rights of Woman'' (1792) और जॉन स्टुअर्ट मिल की ''The Subjection of Women'' (1869) जैसे ग्रंथों ने स्त्री अधिकारों की चर्चा को व्यापक रूप दिया। फ्रांसीसी, अमेरिकी और अंग्रेजी क्रांतियों में भी स्त्रियाँ सक्रिय रहीं और उन्होंने समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के सिद्धांतों में स्वयं को भी सम्मिलित करने की माँग की।

फिर भी, समाज में गहराई से जड़ें जमाए पितृसत्तात्मक मूल्यों ने स्त्री संघर्ष को लगातार दबाने की कोशिश की। महिलाएँ शिक्षा, रोजगार और राजनीति में भागीदारी की मांग लेकर सामने आईं, लेकिन उनकी आवाजों को बार-बार खामोश करने का प्रयास हुआ। इसके बावजूद, स्त्रियों ने अनेक क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति की। फिर भी यह स्वीकार करना आवश्यक है कि पूरी सफलता अभी भी दूर है। पश्चिम की स्त्री ने भले ही कानूनी और सामाजिक अधिकारों की दिशा में कई उपलब्धियाँ हासिल की हों, परंतु उसके भीतर की ''चिरंतन स्त्री''-वह सामाजिक रूप से गढ़ी गई छवि-अब भी पूर्ण रूप से मुक्त

नहीं हो सकी है। पुरुष उसे या तो आकर्षक वस्तु मानकर मोह करता है या उपेक्षा से देखता है, और दोनों ही स्थितियाँ स्त्री के लिए अपमानजनक हैं।

अत: यह स्पष्ट है कि पश्चिमी समाज ने स्त्री के संघर्ष को पहचान तो दी, पर पूर्ण समानता की मंज़िल अब भी अधूरी है। स्त्री को उसकी मानवीय अस्मिता, आत्मनिर्भरता और स्वतंत्र पहचान तभी मिल पाएगी जब समाज उसकी सत्ता को पुरुष के सन्दर्भ से हटाकर स्वतंत्र अस्तित्व के रूप में स्वीकार करेगा।

भारत में स्त्री विमर्श की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टियों:

भारतीय नारी मुक्ति आंदोलन पश्चिमी देशों के नारी आंदोलन से इस मायने में भिन्न है कि जहाँ पश्चिम में स्त्रियों को अपने अधिकारों की प्राप्ति हेतु पुरुषों से संघर्ष करना पड़ा, वहीं भारत में पुरुष समाज के प्रबुद्ध वर्ग ने स्वयं स्त्री अधिकारों के समर्थन में आवाज़ उठाई। राजा राममोहन राय ने सती प्रथा के विरोध में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की, जबकि ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने विधवा पुनर्विवाह और बाल विवाह के विरुद्ध संघर्ष किया। अन्य सुधारकों में महादेव गोविंद रानाडे, बेहराम जी मालाबारी, केशव कर्वे और पंडिता रमाबाई ने भी शिक्षा, पुनर्विवाह और स्त्री आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देने हेतु प्रभावशाली कार्य किए। महात्मा गांधी के स्वतंत्रता आंदोलन में स्त्रियों की भागीदारी से नारी अस्मिता को नया आयाम मिला। गांधी जी के नेतृत्व में स्त्रियाँ घर की चारदीवारी से निकलकर सार्वजनिक जीवन में सक्रिय हुईं। कमलादेवी चट्टोपाध्याय ने इस योगदान को रेखांकित करते हुए कहा था कि इतिहास गांधी जी को उस व्यक्ति के रूप में याद रखेगा, जिन्होंने भारतीय स्त्रियों के भविष्य की दिशा तय की। इस आंदोलन में स्त्रियों ने 'पतिप्रेम से देशप्रेम' की ओर अग्रसर होकर अपने आत्मबल का परिचय दिया।

भारत में स्त्री मुक्ति की अवधारणा केवल विरोध नहीं, बल्कि सहयोग पर आधारित है। यहाँ स्त्री संघर्ष का लक्ष्य पुरुष समाज नहीं, बल्कि उस पितृसत्तात्मक व्यवस्था से है, जिसने स्त्रियों को सदियों तक दबाकर रखा। जबकि पश्चिमी समाज में स्त्री आंदोलन अधिक प्रतिद्वंद्विता की भावना से प्रेरित रहा है, भारतीय स्त्री आंदोलन ने पुरुषों के सहयोग को आवश्यक मानते हुए

सामूहिक उत्थान की दिशा में कार्य किया। भारतीय समाज में व्यक्ति नहीं, परिवार केंद्र में होता है, जिससे स्त्रियों को न केवल सामाजिक, बल्कि पारिवारिक परंपराओं के विरुद्ध भी संघर्ष करना पड़ता है। इसके बावजूद नारीवाद का उद्देश्य पुरुष-विरोधी होना नहीं है, बल्कि पुरुष वर्चस्व की उस सोच को चुनौती देना है जो स्त्रियों को बराबरी का दर्जा नहीं देती। यह विचारधारा स्त्री को समाज से अलग नहीं करती, बल्कि समाज का अभिन्न हिस्सा मानती है।डॉ. मुक्ता त्यागी के अनुसार, भारतीय स्त्री विमर्श तब आरंभ होता है जब स्त्री अपने अस्तित्व को एक नई दृष्टि से देखने लगती है और पुरुषवादी सोच के बंधन से मुक्त होकर अपनी अस्मिता की तलाश करती है। यह विमर्श पितृसत्ता के विरुद्ध स्त्री की मानसिक जागरूकता और उसके अधिकारों की पुनर्प्राप्ति का माध्यम बनता है।

स्वतंत्रता पूर्व भारतीय नारी आंदोलन मुख्यत: शिक्षित और सुविधासंपन्न स्त्रियों तक सीमित था। आम स्त्री इससे अछूती थी। परंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह आंदोलन व्यापक हुआ और ग्रामीण तथा शहरी दोनों क्षेत्रों की स्त्रियाँ इससे जुड़ने लगीं। इसका एक कारण पश्चिमी नारीवाद की प्रेरणा भी रही, जिसने भारतीय स्त्रियों को अपनी दशा पर सोचने और बोलने का साहस दिया।

हालाँकि शहरों में स्त्रियों की स्थिति में कुछ हद तक सुधार हुआ है, परंतु ग्रामीण क्षेत्रों में स्थिति अभी भी चिंताजनक है। वहाँ की स्त्रियाँ आज भी शिक्षा, स्वास्थ्य और आत्मनिर्भरता से वंचित हैं। इसलिए स्त्री शिक्षा और जागरूकता को बढ़ावा देना अत्यंत आवश्यक है। एक शिक्षित स्त्री न केवल अपने अधिकारों के लिए खड़ी हो सकती है, बल्कि समाज की अन्य स्त्रियों को भी प्रोत्साहित कर सकती है। 'स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास' में यह स्पष्ट किया गया है कि यदि देश की हर स्त्री शिक्षित हो जाए, तो समाज की जड़ता टूटेगी और एक उन्नत, समतामूलक राष्ट्र की स्थापना संभव होगी। वास्तव में, जो हाथ पालने की डोरी हिलाते हैं, उनमें ही राष्ट्र के भविष्य को संवारने की सामर्थ्य निहित है। अत: नारी मुक्ति आंदोलन का मूल भाव विरोध नहीं, बल्कि समानता, सहयोग और सहअस्तित्व की भावना है।



अपनी प्रगति जाँचें

प्रश्न संख्या 1. 'The Second Sex' नामक पुस्तक किसने लिखा?

प्रश्न संख्या 2. स्त्री विमर्श से संबंधित कुछ भारतीय लेखिकाओं का नाम उल्लेख कीजिए?

प्रश्न संख्या 3. विमर्श शब्द का अर्थ क्या है?

प्रश्न संख्या 4. बेट्टी प्राइउन की रचना का नाम क्या है?

प्रश्न संख्या 5. 19 वीं शताब्दी के भारत के प्रमुख समाजसुधारक के नाम लिखिए।

11.5 स्वरुप और विकास

समकालीन सामाजिक और साहित्यिक विमर्शों में स्त्री विमर्श एक केंद्रीय और अनिवार्य भूमिका निभा रहा है। यह विमर्श केवल स्त्रियों की समस्याओं का दस्तावेजीकरण नहीं करता, बल्कि उनके जीवन अनुभवों, सांस्कृतिक अस्मिता, अस्तित्व और सामाजिक भूमिकाओं की पुनर्व्याख्या भी करता है। स्त्री विमर्श पितृसत्तात्मक सत्ता संरचनाओं को चुनौती देते हुए एक वैकल्पिक दृष्टि प्रस्तुत करता है, जो मानव समाज के संतुलित विकास की दिशा में मार्ग प्रशस्त करता है। इस आलेख में हम स्त्री विमर्श के स्वरूप और उसके ऐतिहासिक, सामाजिक एवं साहित्यिक विकास की क्रमिक समीक्षा करेंगे।

11.5.1 स्त्री विमर्श का बुनियादी स्वरूप

स्त्री विमर्श का मूल सरोकार स्त्रियों के साथ होने वाले सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और मानसिक शोषण को उजागर करना और उसे बदलने की दिशा में विचार प्रस्तुत करना है। यह विमर्श लिंग आधारित असमानताओं के विरुद्ध एक विचारधारा के रूप में कार्य करता है, जिसका उद्देश्य स्त्री को समाज में उसका न्यायपूर्ण स्थान दिलाना है।

स्त्री विमर्श किसी एक रूप या विचारधारा में सीमित नहीं है। यह एक बहुपरतीय अवधारणा है जिसमें वर्ग, जाति, धर्म, क्षेत्र, संस्कृति और यौनिकता जैसे विविध घटकों का समावेश होता है। इसलिए, इसका स्वरूप एकसमान नहीं

बल्कि विविधता से परिपूर्ण है। इस विविधता के कारण स्त्री विमर्श किसी एक सार्वभौमिक स्त्री अनुभव की बात नहीं करता, बल्कि वह अनेक स्त्री अनुभवों को स्थान देता है।

11.5.2 प्रारंभिक विकास : यूरोपीय पृष्ठभूमि

स्त्री विमर्श का औपचारिक उद्भव यूरोप में 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ, जब वहाँ 'प्रबोधन' और 'फ्रेंच क्रांति' जैसे आंदोलनों ने समानता और अधिकारों की बात शुरू की। मैरी वोल्स्टनक्राफ्ट की पुस्तक ''A Vindication of the Rights of Woman'' (1792) को स्त्री विमर्श की पहली औपचारिक प्रस्तुति माना जाता है। यह वह समय था जब स्त्रियों की शिक्षा, मताधिकार और वैवाहिक अधिकारों पर चर्चा प्रारंभ हुई।

19वीं और 20वीं सदी में यह विमर्श अधिक व्यवस्थित हुआ। अमेरिका और इंग्लैंड में महिला आंदोलनों ने राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों की मांग को संगठित रूप प्रदान किया। स्त्रियों को मताधिकार, शिक्षा और कार्यक्षेत्र में समान अवसरों के लिए लंबा संघर्ष करना पड़ा।

11.5.3 स्त्री विमर्श की तीन प्रमुख तरंगें (Waves)

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर स्त्री विमर्श को तीन प्रमुख तरंगों में बाँटा गया है:

1. प्रथम तरंग (19वीं सदी- मध्य 20वीं सदी) :

यह तरंग स्त्रियों के मूल अधिकारों जैसे शिक्षा, संपत्ति का अधिकार, मताधिकार आदि के लिए संघर्ष की प्रतीक रही। यह आंदोलन अपेक्षाकृत मध्यवर्गीय श्वेत महिलाओं तक सीमित था और इसके दायरे में बहुसांस्कृतिक स्त्रियों की समस्याएँ नहीं आ पाईं।

2. द्वितीय तरंग (1960-1980) :

इस दौर में स्त्रीवाद ने परिवार, विवाह, यौनिकता, देह, कार्यस्थल पर शोषण जैसे मुद्दों पर गंभीर बहस छेड़ी। सिमोन द बोउवार की पुस्तक ''The Second Sex'' इस चरण की वैचारिक आधारशिला बनी। इसमें यह विचार प्रमुख था कि ''स्त्री पैदा नहीं होती, बना दी जाती है।''

3. तृतीय तरंग (1990 के बाद) :

यह चरण उत्तर-औपनिवेशिक, बहुलतावादी और समावेशी दृष्टिकोण अपनाता

है। इसमें जाति, नस्ल, वर्ग, भाषा और यौनिक पहचान जैसे विविध पक्षों को शामिल किया गया। इस तरंग में दलित स्त्रियाँ, रंगभेद पीड़ित महिलाएँ, ट्रांस और क्वीयर समुदाय की महिलाएँ भी विमर्श के केंद्र में आईं।

11.5.4 भारतीय संदर्भ में स्त्री विमर्श का विकास

भारत में स्त्री विमर्श की पृष्ठभूमि उपनिवेशकालीन सुधार आंदोलनों से जुड़ी हुई है। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर और महात्मा फुले जैसे समाज सुधारकों ने स्त्रियों की शिक्षा, विधवा पुनर्विवाह और सती प्रथा के खिलाफ अभियान चलाए। हालांकि, इन आंदोलनों का दृष्टिकोण स्त्रियों के लिए 'सुधारवादी' था, न कि 'सशक्तिकारी'।

स्वाधीनता आंदोलन के दौरान अनेक महिलाएँ स्वतंत्रता संग्राम में भागीदार बनीं, जिससे सार्वजनिक जीवन में उनकी उपस्थिति बढ़ी। परंतु यह भागीदारी भी पुरुष नेतृत्व के अधीन रही। स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान ने स्त्रियों को समान अधिकार दिए, परंतु सामाजिक स्तर पर स्थितियाँ बहुत धीमी गति से बदलीं।

11.5.5 हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श का विस्तार

हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श का प्रसार विशेष रूप से 1980 के दशक के बाद हुआ। इससे पहले भी प्रेमचंद, महादेवी वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान आदि ने स्त्री जीवन के कुछ पहलुओं को साहित्य में स्थान दिया था, परंतु स्पष्ट स्त्री चेतना का स्वर कम ही सुनाई देता था।

आधुनिक काल में मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, अनामिका, गीतांजलि श्री आदि लेखिकाओं ने स्त्री की अंतर्व्यथा, कामना, विद्रोह और अस्मिता को प्रमुखता से उकेरा। इनकी रचनाओं में स्त्री एक सजग, आत्मनिर्भर और विद्रोही रूप में उभरती है, जो सामाजिक रूढ़ियों को चुनौती देती है।



महत्वपूर्ण बिंदु

भारतीय स्त्री विमर्श की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यहाँ बहुस्तरीय स्त्री अनुभवों को मान्यता मिली है। दलित

स्त्रियाँ केवल पितृसत्ता से नहीं, बल्कि जातिवाद और वर्गीय शोषण से भी जूझती हैं। ऊषा वागमारे, सुजाता, कौशल्या बैसंत्री जैसी लेखिकाओं ने दलित स्त्री के दोहरे दमन को रेखांकित किया।
इसी प्रकार, आदिवासी स्त्रियाँ प्राकृतिक संसाधनों से जुड़े संघर्ष, विस्थापन और सांस्कृतिक पहचान के संकटों से जूझ रही हैं। महाश्वेता देवी की लेखनी में आदिवासी स्त्री का संघर्ष अत्यंत प्रभावशाली ढंग से चित्रित होता है।

11.5.6 स्त्री विमर्श का समकालीन स्वरूप

वर्तमान समय में स्त्री विमर्श बहुआयामी हो चुका है। अब यह केवल पुरुष-विरोध तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सत्ता, भाषा, संस्कृति, पर्यावरण, तकनीक, यौनिकता और वैश्वीकरण जैसे जटिल मुद्दों को भी समेटता है। अब स्त्री विमर्श केवल स्त्री के अनुभव की बात नहीं करता, बल्कि संपूर्ण मानवता के लिए अधिक न्यायसंगत, समावेशी और संवेदनशील समाज की कल्पना करता है।

समकालीन मीडिया, सोशल मीडिया और डिजिटल मंचों ने स्त्रियों को अपनी बात कहने का एक नया मंच प्रदान किया है। MeToo जैसे अभियान इस विमर्श की डिजिटल अभिव्यक्तियाँ हैं, जिन्होंने शोषण के विरुद्ध अंतरराष्ट्रीय स्तर पर चेतना जगाई है।

11.6 हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श और नारी अस्मिता

साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है क्योंकि यह समय, संस्कृति और समाज की सच्चाइयों को प्रतिबिंबित करता है। यह न केवल यथार्थ को अभिव्यक्त करता है, बल्कि सामाजिक चेतना और परिवर्तन का मार्ग भी प्रशस्त करता है। भारतीय समाज में पितृसत्तात्मक व्यवस्था के सुदृढ़ होने के साथ स्त्रियों की स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई थी। स्त्रियों से उनके अधिकार छीन लिए गए और उन्हें महज़ उपभोग की वस्तु समझा जाने लगा। ऐसे युग में मीराबाई ने स्त्री की आत्मा को वाणी दी। उन्होंने समाज की रूढ़ियों और धार्मिक बंधनों के विरुद्ध विद्रोह करते हुए स्त्री आत्मा की स्वतंत्रता का आह्वान किया। डॉ. मैनेजर पाण्डेय के अनुसार, मीराबाई का काव्य उस समय की स्त्री

पराधीनता के विरुद्ध एक खुला प्रतिरोध था। उन्होंने स्त्री दृष्टि से स्त्री की पीड़ा को स्वर दिया और पुरुष वर्चस्व के विरुद्ध खड़ी हुईं। ''अपने घर का परदा कर लीं, मैं अबला बैरागी'' जैसी पंक्तियाँ उस युग में स्त्री विद्रोह की अद्वितीय मिसाल हैं। मीराबाई का काव्य न केवल धार्मिक भक्ति है, बल्कि स्त्री अस्मिता की गूंज भी है।

मध्यकालीन भारत में जब साहित्य पर पुरुषों का वर्चस्व था, तब स्त्रियाँ काव्य के माध्यम से अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करती थीं, भले ही समाज उन्हें स्वीकार न करे। 'भीमा चारणी', 'बिरजूबाई', 'ठकुरानी काकरेची' जैसी कवियित्रियों ने अपनी सीमित सामाजिक स्थिति में भी स्त्री स्वभाव और जीवन का चित्रण किया। आधुनिक काल में सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा, और अन्य लेखिकाओं ने स्त्री विमर्श को एक नया आधार दिया। स्वतंत्रता संग्राम और विश्वयुद्ध जैसे घटनाक्रमों ने साहित्यिक विषयों को व्यापक बनाया और स्त्री अस्मिता को चर्चा के केंद्र में लाया। स्त्रियों में शिक्षा और आत्मबोध का प्रसार हुआ। पंडिता रमाबाई, रमाबाई रानाडे, आनंदीबाई जोशी जैसी स्त्रियाँ विदेश जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त कर समाज सुधार में अग्रसर हुईं। इन्होंने स्त्रियों के लिए पत्रिकाएँ और संगठन स्थापित किए, जिससे स्त्री आंदोलन को गति मिली।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य की नींव पड़ी। उन्होंने 'बाला-बोधिनी' जैसी पत्रिका की स्थापना कर स्त्रियों के शिक्षित होने की दिशा में पहल की। 'चाँद' और 'स्त्री-दर्पण' जैसी पत्रिकाओं ने भी स्त्री जीवन के विविध पहलुओं को रेखांकित किया। प्रेमचंद के आगमन से साहित्य ने सामाजिक यथार्थ की ज़मीन पकड़ी। उन्होंने अपने उपन्यासों और कहानियों में स्त्रियों की पारिवारिक, आर्थिक और सामाजिक विवशताओं को अत्यंत संवेदनशीलता से उजागर किया। हालाँकि प्रेमचंद कोई ठोस वैकल्पिक स्त्री दृष्टि नहीं दे सके, लेकिन उनका लेखन स्त्री मुक्ति की राह का पहला ठोस कदम था। 1930 के बाद स्त्री केंद्रित लेखन में तीव्रता आयी। मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, दीप्ति खंडेलवाल, मालती जोशी आदि ने स्त्री की निजी अनुभूतियों और सामाजिक द्वंद्वों को उभारा।

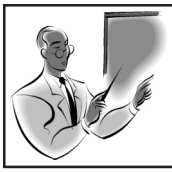
इन लेखिकाओं ने केवल स्त्री-चरित्र नहीं, बल्कि स्त्री-व्यक्तित्व की

रचना की। उनके लेखन ने यह स्पष्ट किया कि स्त्री विमर्श अब महज सामाजिक प्रश्न नहीं, बल्कि एक सृजनात्मक साहित्यिक आंदोलन बन चुका है। इसके बाद की लेखिकाएँ जैसे चित्रा मुद्गल, प्रभा खेतान, राजी सेठ, नासिरा शर्मा आदि ने परंपराओं को चुनौती दी और स्त्री अस्मिता को नए प्रतिमानों में गढ़ा।

छायावाद काल में महादेवी वर्मा ने स्त्री चेतना को जिस आत्मगर्भिता के साथ चित्रित किया, वह अन्य पुरुष कवियों से भिन्न है। उनका काव्य स्त्री आत्मा की पीड़ा, संकोच, विद्रोह और आत्मनिर्भरता का स्वर था। ''मैं नीर भरी दुख की बदली'' जैसी रचनाएँ स्त्री के अंत:वेदना की गहराई को प्रकट करती हैं। उनका मानना था कि स्त्री-पुरुष दोनों स्वतंत्र हों तभी स्वस्थ समाज की संरचना संभव है। सुभद्रा कुमारी चौहान ने अपने प्रसिद्ध काव्य 'झाँसी की रानी' के माध्यम से स्त्री शक्ति का जीवंत चित्रण किया। आधुनिक हिंदी कथा साहित्य में यशपाल, अज्ञेय, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा आदि पुरुष लेखकों ने भी स्त्री की स्थिति पर विचार किया, परंतु स्त्रियों ने जब स्वयं अपनी कहानियाँ लिखनी शुरू कीं, तब स्त्री विमर्श की एक सशक्त धारा साहित्य में विकसित हुई।

महाश्वेता देवी, अमृता प्रीतम, अनामिका, मन्नू भंडारी, ममता कालिया, चित्रा मुदगल, प्रभा खेतान जैसी लेखिकाओं ने न केवल स्त्री की समस्याओं को उजागर किया, बल्कि उन्हें यथार्थ की कठोर ज़मीन पर स्थापित भी किया। इन्होंने विवाह, प्रेम, यौनिकता, मातृत्व, श्रम, असमानता जैसे विषयों पर बिना लाग-लपेट के विचार किया। आज की स्त्री परंपरा के 'मायादर्पण' को तोड़ चुकी है। वह अब किसी की छवि नहीं, स्वयं की पहचान बनाना चाहती है। वह निर्णय लेने में सक्षम है और समाज से अपने अधिकार की माँग कर रही है। महादेवी वर्मा की मान्यता थी कि स्त्री-पुरुष का संबंध केवल परंपरागत नहीं, समानता और सहयोग का होना चाहिए।

अत: यह कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य ने स्त्री अस्मिता के विविध आयामों को उजागर करते हुए स्त्री विमर्श को एक सशक्त रूप प्रदान किया है। स्त्रियाँ अब न केवल लेखन का विषय हैं, बल्कि वे अपने लेखन के द्वारा समाज में बदलाव लाने का माध्यम बन चुकी हैं।



महत्वपूर्ण बिंदु

स्त्री विमर्श एक गतिशील अवधारणा है जो समाज की बदलती

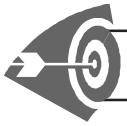
संरचना, सत्ता-सम्बंधों और स्त्री की भूमिका के साथ निरंतर विकसित हो रहा है। यह केवल स्त्री की मुक्ति की बात नहीं करता, बल्कि एक न्यायपूर्ण, समतामूलक और संवेदनशील समाज के निर्माण की ओर संकेत करता है। स्त्री विमर्श हमें यह सोचने पर विवश करता है कि क्या वास्तव में हम एक समावेशी और मानवीय समाज की ओर बढ़ रहे हैं या अब भी परंपराओं और पितृसत्ता की बेड़ियों में जकड़े हुए हैं।



11.7 सारांश

स्त्री विमर्श आज केवल एक वैचारिक आंदोलन नहीं रह गया है, बल्कि यह सामाजिक चेतना का वह स्वर है जो असमानताओं, भेदभाव और सत्ता के अनुचित प्रयोग को निरंतर प्रश्नांकित करता है। यह विमर्श स्त्री को उसके पारंपरिक रूपों से बाहर निकाल कर एक स्वायत्त, सोचने-समझने और निर्णय लेने वाली इकाई के रूप में प्रस्तुत करता है। आधुनिक संदर्भों में इसका फलक लगातार व्यापक होता जा रहा है, जिसमें न केवल शहरी शिक्षित महिलाओं के अनुभव शामिल हैं, बल्कि ग्रामीण, दलित, आदिवासी और अल्पसंख्यक वर्ग की स्त्रियों की भी सशक्त उपस्थिति दर्ज हो रही है।

स्त्री विमर्श का सार केवल अधिकारों की मांग में नहीं, बल्कि सामाजिक ढांचे को मानवीय और समतामूलक रूप में पुनर्गठित करने में निहित है। साहित्य, कला, मीडिया और अकादमिक क्षेत्रों में इस विमर्श ने सोच के नए क्षितिज खोले हैं, जहाँ लिंग आधारित दृष्टिकोण को गहराई से समझने की संभावनाएँ विकसित हुई हैं। यह निष्कर्ष इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि जब तक स्त्री को संपूर्ण रूप से स्वतंत्रता, सम्मान और समावेशिता नहीं प्राप्त होती, तब तक स्त्री विमर्श की प्रासंगिकता बनी रहेगी। यह विमर्श केवल स्त्री का नहीं, बल्कि एक न्यायसंगत समाज का सपना है।



11.8 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

पश्न संख्या 1. का उत्तर : सिमोन द बोउआर की पुस्तकहै 'The Second Sex'।

प्रश्न संख्या 2. का उत्तर : अमृता प्रीतम, मन्नू भंडारी, मैत्रेयी पुष्पा।

प्रश्न संख्या 3. का उत्तर : 'विमर्श' शब्द संस्कृत की 'मृश्' धातु से व्युत्पन्न है, जिसमें 'वि' उपसर्ग और 'घञ्' प्रत्यय जुड़कर यह शब्द बनता है। यह शब्द व्यापक अर्थ में विचार, समीक्षा, विश्लेषण, आलोचना तथा परीक्षण की क्रिया को दर्शाता है।

प्रश्न संख्या 4. का उत्तर : पाने के लिए इकाई को ध्यान से पढ़ें।

पश्न संख्या 5.का उत्तर : राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर सावित्रीबाई फुले।



11.9 अधिक जानने के लिए पढ़ें

- सिंह, डॉ. ऋचा, स्त्री विमर्श की वैचारिकी, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2018
- टाकभौरे, सुशीला, स्त्री-विमर्श की भूमिका, ज्ञान प्रवाह प्रकाशन, जबलपुर, 2011
- शर्मा, श्रीराम(सं),समकालीन हिंदी साहित्य विविध विमर्श, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
- अग्रवाल, रोहिणी, साहित्य का स्त्री-स्वर साहित्य भंडार, इलाहावाद, संस्करण, 2014
- वर्मा, महादेवी, श्रृंखला की कडियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012
- खेतान, प्रभा(अनु), स्त्री, उपेक्षिता : सीमोन द बोउवार,हिन्द पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली,2002
- अग्रवाल, रोहिणी, साहित्य का स्त्री-स्वर, साहित्य भंडार, इलाहावाद, 2014
- त्यागी, मुक्ता, समकालीन महिला उपन्यासकारों के उपन्सासों में नारी विमर्श, अमन प्रकाशन, उत्तर प्रदेश, 2012
- कस्तावर, रेखा, स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013
- अग्रवाल, रोहिणी, साहित्य का स्त्री-स्वर, साहित्य भंडार, इलाहावाद, 2014

● पांडे, मृणाल,परिवर्तन पर स्त्री, राधाकृष्य प्रकाशन, नई दिल्ली,1996,

11.10 अभ्यास प्रश्न

क) संक्षिप्त प्रश्नों के उत्तर लिखिए :

1. स्त्री विमर्श का शाब्दिक अर्थ क्या है?
2. स्त्री विमर्श की शुरुआत किन परिस्थितियों में हुई?
3. स्त्री विमर्श को सामाजिक परिवर्तन से कैसे जोड़ा जाता है?
4. पश्चिम में 'फेमिनिज्य' शब्द का प्रयोग सबसे पहले किसने किया था?
5. जॉन स्टुअर्ट मिल द्वारा रचित पुस्तक का नाम क्या है?

ख) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखिए :

1. स्त्री विमर्श की अवधारणा का विस्तारपूर्वक परिचय दीजिए तथा इसके सामाजिक और साहित्यिक पक्षों पर विचार कीजिए।
2. स्त्री विमर्श को एक वैचारिक आंदोलन के रूप में समझाते हुए इसके मुख्य सिद्धांतों का विवेचन कीजिए।
3. स्त्री विमर्श की अवधारणा का पश्चिमी और भारतीय संदर्भों में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए।
4. 'हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श और नारी विमर्श' पर एक आलेख प्रस्तुत कीजिए।
5. पश्चिमी और भारतीय सन्दर्भ में स्त्री विमर्श पर चर्चा कीजिए।

******

इकाई 12 : दलित विमर्श

इकाई की रूपरेखा

12.1 उद्देश्य
12.2 प्रस्तावना
12.3 दलित शब्द: अर्थ, व्युत्पत्ति और सामाजिक सन्दर्भ
12.4 दलित विमर्श की अवधारणा
12.5 दलित साहित्य की परिभाषा और स्वरूप
12.6 उद्भव और विकास
12.7 दलित साहित्य वर्त्तमान सन्दर्भ और चुनौतियाँ
12.8 सारांश
12.9 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)
12.10 अधिक जानने के लिए पढ़ें
12.11 अभ्यास पश्न

12.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप

- दलित शब्द का अर्थ एवं स्वरूप के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- दलित विमर्श की अवधारानाओं के बारे में जान पाएंगे।
- इससे संबंधित विभिन्न दृष्टिकोणों से अवगत हो पाएंगे।
- दलित साहित्य एवं वर्तमान सन्दर्भ के बारे में अवगत हो सकेंगे।
- दलित विमर्श के स्वरुप और विकास को समझ पाएंगे।

12.2 प्रस्तावना

दलित विमर्श आधुनिक भारतीय साहित्य और समाजशास्त्र में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और सशक्त आंदोलन के रूप में उभरा है। यह विमर्श उस ऐतिहासिक अन्याय, शोषण, बहिष्कार और सामाजिक अपमान के विरुद्ध प्रतिरोध की आवाज़ है, जिसे भारतीय समाज की जाति-व्यवस्था ने सदियों तक दलितों पर थोपा। यह केवल साहित्यिक आंदोलन न होकर सामाजिक न्याय, समानता और मानवाधिकार की मांग का सामाजिक-राजनीतिक प्रयास भी है।

दलित विमर्श की मूल चेतना अनुभवजन्य यथार्थ पर आधारित है। यह

अनुभव उस पीड़ा का दस्तावेज़ है, जिसे दलित समाज ने न केवल झेला है, बल्कि उसे आत्मसम्मान और अस्मिता की दृष्टि से व्यक्त भी किया है। यह विमर्श सवर्ण दृष्टिकोण से इतर, दलित दृष्टिकोण को केंद्र में रखता है, जिससे साहित्यिक सत्ता संरचना में नये प्रश्न खड़े होते हैं और विमर्श के नये आयाम विकसित होते हैं।

बाबासाहेब डॉ. भीमराव आम्बेडकर की विचारधारा इस विमर्श की वैचारिक रीढ़ है। उन्होंने दलितों के लिए सामाजिक, राजनीतिक और शैक्षिक समानता की मांग की, जिसे दलित साहित्य और विमर्श ने सृजनात्मक रूप में प्रस्तुत किया। मराठी दलित साहित्य, विशेषकर नामदेव ढसाल, लक्ष्मण माने, शरण कुमार लिंबाले आदि लेखकों की कृतियाँ इस दिशा में अत्यंत प्रभावशाली रही हैं।

अत: दलित विमर्श केवल साहित्यिक सृजन नहीं, बल्कि एक क्रांतिकारी दृष्टिकोण है, जो समाज के हाशिये पर खड़े मनुष्यों को केन्द्र में लाकर समता, न्याय और गरिमा की पुनर्स्थापना करता है।

12.3 दलित शब्द : अर्थ, व्युत्पत्ति और सामाजिक सन्दर्भ

'दलित' ऐसा अस्मिता-निर्माण करने वाला शब्द है, जो भारतीय और गैर-भारतीय शब्द-संरचना में एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसका अर्थ केवल व्युत्पत्तिगत विवेचन पर निर्भर नहीं है, बल्कि यह शब्द अपने आप में एक ऐसा सामाजिक अनुभव बन चुका है, जो पीड़ा, शोषण और बहिष्करण की कहानी कहता है। व्याकरण और व्युत्पत्ति के आधार पर यदि इसके अर्थ को परिभाषित किया भी जाए, तो यही निष्कर्ष निकलता है कि यह शब्द जाति के खांचों में बाँधे गए उन लोगों के लिए प्रयुक्त होता है जो सदियों से अछूत, पीड़ित और शोषित रहे हैं।

यह विशेषता केवल 'दलित' वर्ग की ही रही है कि उसे इतिहास के विभिन्न चरणों में अलग-अलग नामों से पहचाना गया। आज यह शब्द 'दलित' के रूप में सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत और प्रतिष्ठित है। संस्कृत की 'दल' धातु से निकला 'दलित' शब्द मूलत: 'विदीर्ण' या 'खंडित' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। कुछ भाषा-विशेषज्ञों की मान्यता है कि 'दल' शब्द में 'क्त' प्रत्यय जोड़कर

'दलित' की रचना हुई है, परन्तु यह व्युत्पत्ति अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं होती। इसके विपरीत, 'दल' में 'इत' प्रत्यय जोड़कर निर्मित 'दलित' शब्द अधिक सटीक और उपयुक्त माना जाता है। यह व्याकरणिक संरचना इसे विशेषण बनाती है, जिसका आशय होता है–दल में सम्मिलित व्यक्ति, समूह में समाहित जन अथवा दलों का संगठनात्मक रूप।

विभिन्न शब्दकोशों में 'दल' और 'दलित' शब्दों की जो परिभाषाएँ दी गई हैं, वे इस प्रकार हैं—

नालंदा विशाल शब्द–सागरः1. मसला, रौंदा या कुचला हुआ। 2. नष्ट किया हुआ।

हिन्दी–संस्कृत–कोश : 1. खण्डित, चूर्णित, मर्दित 2. अस्पृश्य, अन्त्यज

संस्कृत–हिन्दी–कोश : 1.टूटा हुआ, चीरा हुआ, फाड़ा हुआ, फटा हुआ, टुकड़े–टुकड़े किया हुआ। 2. खुला हुआ, फैलाया हुआ।

हिन्द शब्द–सागर : 1. मसला हुआ, मर्दित। 2. दबाया, रौंदा या कुचला हुआ। 3. खण्डित 4. विनष्ट किया हुआ

हिन्दी पर्यायवाची–कोश : 1. कुचला हुआ, मर्दित, मसला, रौंदा हुआ। 2. पस्त हिम्मत, हतोत्साह। 3. अछूत, जनजाति, डिप्रेस्ड क्लास।

संस्कृत–अंग्रेजी–डिक्शनरी दलितः broken, torched, worst, rent, split।

इन सभी शब्दकोशों में 'दलित' के जो अर्थ दिए गए हैं, वे एक ही मूलार्थ को विविध रूपों में स्पष्ट करते हैं। ये अर्थ जैसे थाली में रखा बैंगन लुढ़कता है, वैसे ही 'दलित' की व्याख्याएं विभिन्न दिशाओं में मुड़ती–घूमती प्रतीत होती हैं, परंतु अंततः वह स्वातंत्र्य और आत्मसम्मान की छटपटाहट को ही अभिव्यक्त करती हैं। वास्तव में 'दलित' शब्द, 'दलन' का पर्याय बन चुका है।

श्रीमती एनी बेसेन्ट ने इस वर्ग को 'Depressed Class' की संज्ञा दी, विवेकानन्द ने इसे 'दलित', महात्मा गांधी ने 'हरिजन', और सोहनपाल 'सुमनाक्षर' ने 'चुभन' शब्द से संबोधित किया। यही वर्ग अलग–अलग भाषाओं और सामाजिक संदर्भों में विभिन्न नामों से जाना गया–संस्कृत में 'दास', अमेरिका में 'निग्रो', अफ्रीका में 'अश्वेत', मराठी में 'बहिष्कृत', देशज हिन्दी में 'सरकारी पण्डित' और भारतीय संविधान में 'अनुसूचित जाति'। दलित और गैर–दलित विषयवस्तु पर आधारित पत्रिकाएँ जैसे—भीम पत्रिका, अनार्य भारत, मूकनायक, हिमायती, अंगुत्तर, हमदलित, सारिका, चाँद, हंस, तद्भव, कथादेश, माध्यम,

आलोचना, लमही, कृतिका, संचेतना—इन सभी में 'दलित' शब्द का ही व्यापक रूप से प्रयोग किया गया है।

निर्गुण संत परंपरा के कवियों जैसे-कबीर, रैदास, पीपा, सेन, रज्जब, रविदास, दरियाकी वाणी में भी 'दलित' शब्द का प्रयोग अछूत, नीच, दीन-हीन, चाण्डाल, अन्तेवासी जैसे अर्थों में हुआ है।

अत: यह स्पष्ट होता है कि 'दलित' शब्द केवल एक सामाजिक श्रेणी का नाम नहीं, बल्कि यह उस अनुभव-संसार का प्रतीक है जो दमन, उपेक्षा और संघर्ष से निकली चेतना को प्रकट करता है। इसके साथ ही 'दल' शब्द भी उस गूढ़ सामाजिक संरचना का रहस्योद्घाटन करता है, जो विभाजन और वर्गीकरण के मध्य संघर्ष की जड़ें बनाए हुए है।

12.4 दलित विमर्श की अवधारणा

दलित विमर्श आधुनिक भारतीय समाज और साहित्य में एक सशक्त वैचारिक आंदोलन है, जो सदियों से उपेक्षित, शोषित और उत्पीड़ित समुदाय की आवाज को केंद्र में लाता है। 'दलित' शब्द का अर्थ है- 'दबाया हुआ' या 'पीड़ित', और यह उन सामाजिक वर्गों को सूचित करता है जिन्हें पारंपरिक जाति-व्यवस्था के अधीन अछूत या निम्न वर्ग माना गया। दलित विमर्श का उद्भव केवल एक सामाजिक या राजनीतिक प्रतिक्रिया नहीं है, बल्कि यह एक गहरे आत्मबोध, अस्मिता और अधिकार चेतना से उपजा सांस्कृतिक और बौद्धिक प्रतिरोध है।

दलित विमर्श की अवधारणा का आधार अनुभवजन्य यथार्थ है, न कि किसी कल्पनाशील आदर्शवाद का विस्तार। यह विमर्श उन जातीय और सामाजिक संरचनाओं को चुनौती देता है जो हजारों वर्षों से दलित समुदाय को हाशिए पर रखते आए हैं। यह केवल जातिवाद के विरोध तक सीमित नहीं है, बल्कि यह उस समस्त सामाजिक संरचना का पुनर्पाठ करता है जिसमें भेदभाव, बहिष्कार और दमन निहित हैं।

डॉ. भीमराव आम्बेडकर इस विमर्श के मूल प्रेरणास्त्रोत हैं। उन्होंने सामाजिक समानता, शिक्षा और राजनीतिक अधिकारों के माध्यम से दलितों के उत्थान की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने हिन्दू धर्म की वर्ण-व्यवस्था को सीधी

चुनौती दी और कहा कि ''मैं हिन्दू के रूप में पैदा हुआ हूँ, लेकिन हिन्दू के रूप में मरूँगा नहीं।'' उनके विचारों ने दलितों को एक नई चेतना, आत्मसम्मान और संघर्ष की राह दिखाई।

दलित विमर्श मुख्यत: दलित साहित्य के माध्यम से मुखरित हुआ। इसमें वह साहित्य शामिल है जो दलितों के अपने अनुभव, पीड़ा, संघर्ष और आकांक्षाओं से उपजा है। यह साहित्य परंपरागत सौंदर्यशास्त्र की कसौटियों को खारिज करता है और नए सौंदर्यशास्त्र की स्थापना करता है जो यथार्थ, विद्रोह और सामाजिक न्याय की भावना से प्रेरित है। मराठी साहित्य में नामदेव ढसाल, लक्ष्मण माने, शरण कुमार लिंबाले, हिंदी में ओमप्रकाश वाल्मीकि, श्योराज सिंह 'बेचैन', तुलसीराम, कौशल पंवार आदि ने दलित साहित्य को नई दिशा दी।

दलित विमर्श का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि यह केवल वर्ण-व्यवस्था का विरोध नहीं करता, बल्कि ब्राह्मणवादी वर्चस्व के समस्त सांस्कृतिक, धार्मिक और बौद्धिक ढांचों को भी प्रश्नांकित करता है। यह विमर्श सत्ता और वर्चस्व की उन संरचनाओं को उजागर करता है, जो शोषण को नैतिकता का जामा पहनाकर प्रस्तुत करती हैं।

अत: दलित विमर्श केवल सामाजिक असमानता का प्रतिरोध नहीं है, बल्कि यह एक वैचारिक क्रांति है जो बहुजन समाज की अस्मिता, अधिकार और सम्मान की पुनर्स्थापना का कार्य करती है। यह विमर्श भारतीय समाज को अधिक समावेशी, लोकतांत्रिक और न्यायसंगत बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।



महत्वपूर्ण बिंदु

दलित विमर्श का उद्देश्य जातिगत भेदभाव को समाप्त कर एक समान और न्यायपूर्ण समाज की स्थापना करना है। यह विचारधारा दलितों की पीड़ा को स्वर देती है और उनके आत्मसम्मान व पहचान को उभारने का कार्य करती है। यह आंदोलन सामाजिक अन्याय, उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध संघर्ष करता है। वर्णव्यवस्था के विरोध में यह जाति-रहित समाज की कल्पना करता है। दलित साहित्य यथार्थ अनुभवों को अभिव्यक्त करने का माध्यम है। बौद्ध दृष्टिकोण अपनाते हुए यह धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों की पुनर्समीक्षा करता है। शिक्षा और जागरूकता को परिवर्तन का अहम साधन माना गया है।

12.5 दलित साहित्य की परिभाषा और स्वरूप

दलित साहित्य सामाजिक अन्याय, शोषण और भेदभाव के विरुद्ध संघर्ष की सशक्त अभिव्यक्ति है, जिसकी नींव डॉ. भीमराव आंबेडकर के विचारों पर आधारित है। यह साहित्य छुआछूत, आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक दमन के खिलाफ आवाज उठाता है। दलित रचनाकारों ने अपने अनुभवों को कहानी, कविता, आत्मकथा, नाटक आदि रूपों में प्रस्तुत कर समाज की क्रूर सच्चाइयों को उजागर किया है। इस साहित्य का नायक स्वयं दलित होता है, जो संघर्ष के माध्यम से आत्म-सम्मान प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है। आम बोलचाल की भाषा इसका मुख्य माध्यम है, जिससे इसकी अभिव्यक्ति और अधिक प्रभावी बनती है। यह परंपरागत साहित्य से भिन्न है क्योंकि यह हिंदू धर्म की रूढ़ियों को चुनौती देता है और मानवीय मूल्यों व समानता को प्राथमिकता देता है। दलित साहित्य केवल जातीय चेतना नहीं, बल्कि समूचे वंचित समाज की अस्मिता और न्याय की लड़ाई की प्रतिनिधि आवाज बन गया है।

यहाँ ''दलित'' और ''दलित साहित्य'' को लेकर विभिन्न साहित्यकारों, चिंतकों और आलोचकों द्वारा दी गई महत्वपूर्ण परिभाषाएँ और कथन दिए जा रहे हैं, जो इस विमर्श की विचारधारा को समझने में सहायक हैं :

यहाँ ''दलित'' और ''दलित साहित्य'' को लेकर विभिन्न साहित्यकारों, चिंतकों और आलोचकों द्वारा दी गई महत्वपूर्ण परिभाषाएँ और कथन दिए जा रहे हैं, जो इस विमर्श की विचारधारा को समझने में सहायक हैं-

ओमप्रकाश वाल्मीकि-

''दलित साहित्य आत्मा की आवाज़ है, शोषण, अन्याय और पीड़ा की अभिव्यक्ति है।'' वाल्मीकि ने इसे केवल साहित्यिक श्रेणी नहीं, बल्कि सामाजिक संघर्ष की दस्तावेजी गवाही बताया।

मोहनदास नैमिशराय-

''दलित साहित्य सत्ता के केंद्र में न होकर हाशिये की उन आवाजों को प्रस्तुत करता है, जिन्हें सदियों तक दबाया गया।''

नामदेव ढसाल (मराठी दलित कवि)-

''दलित साहित्य वह साहित्य है जो जलती हुई भट्ठी से निकली चीख जैसा है- जिसे नजरअंदाज़ नहीं किया जा सकता।''

शरण कुमार लिंबाले (प्रसिद्ध मराठी दलित साहित्यकार व आलोचक)–

''दलित साहित्य दलितों के जीवन का दस्तावेज़ है। यह साहित्य अनुभव, यथार्थ और संघर्ष से उपजा हुआ साहित्य है, कल्पना से नहीं।''

डॉ. रामविलास शर्मा (हालाँकि वे दलित साहित्य के समर्थक नहीं माने जाते, पर उन्होंने इसकी सामाजिक शक्ति को स्वीकारा)–

''दलित साहित्य में जो अनुभव हैं, वे हमारी सभ्यता और संस्कृति की परछाइयों को उजागर करते हैं।''

डॉ. तुलसीराम–

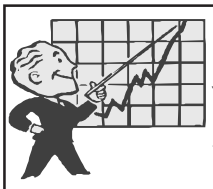
''दलित साहित्य सामाजिक आत्मकथा है, यह समाज की सामूहिक अंतरात्मा का दस्तावेज़ है।

12.6 उद्भव और विकास

दलित विमर्श भारतीय समाज में व्याप्त शोषण, भेदभाव और सामाजिक विषमता के विरुद्ध एक सशक्त वैचारिक प्रतिरोध है। यह न केवल एक साहित्यिक आंदोलन है, बल्कि एक सामाजिक-सांस्कृतिक क्रांति है, जो उस समुदाय की आवाज़ बनकर उभरा है जिसे इतिहास ने सदियों तक हाशिए पर रखा। दलित विमर्श का लक्ष्य केवल सामाजिक अन्याय को उजागर करना नहीं, बल्कि उस व्यवस्था को चुनौती देना है जिसने दलित समुदाय को अपमान, अस्पृश्यता और अवसरों से वंचना के गर्त में धकेल दिया।

12.6.1 दलित विमर्श का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य :

भारतीय समाज में वर्णव्यवस्था के रूप में जो सामाजिक ढांचा प्राचीन काल से चला आ रहा था, उसने समाज को चार मुख्य वर्गों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—में बाँट दिया। शूद्रों से भी नीचे जिन वर्गों को रखा गया, उन्हें 'अवर्ण' कहा गया, जो आगे चलकर 'दलित' के रूप में जाने गए। इन वर्गों को सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक रूप से हाशिए पर रखा गया। वे मंदिर प्रवेश, शिक्षा, जल स्रोतों का उपयोग और सामाजिक सहभागिता जैसे बुनियादी अधिकारों से वंचित रहे। यह व्यवस्था केवल सामाजिक ही नहीं, बल्कि धार्मिक रूप से भी पवित्रता-अपवित्रता के सिद्धांतों से पुष्ट होती रही।



अपनी प्रगति जाँचें

प्रश्न संख्या 1. दलित विमर्श का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या है?

प्रश्न संख्या 2. 'दलित' शब्द का अर्थ क्या है?

प्रश्न संख्या 3. किन-किन निर्गुण संतों ने दलित शब्द का प्रयोग विविध अर्थ में क्या है?

12.6.2 डॉ. भीमराव आम्बेडकर का योगदान :

दलित विमर्श के वैचारिक और सामाजिक आधार की नींव डॉ. भीमराव आम्बेडकर ने रखी। उन्होंने दलित समुदाय को 'अस्पृश्य' नहीं, बल्कि 'मनुष्य' के रूप में प्रतिष्ठा दिलाने का कार्य किया। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने दलितों के सामाजिक, राजनीतिक और शैक्षणिक अधिकारों की मांग को राष्ट्रीय मंच पर उठाया। उन्होंने न केवल आरक्षण की व्यवस्था की पैरवी की, बल्कि हिन्दू धर्म की जाति-व्यवस्था की कटु आलोचना भी की। उनका प्रसिद्ध कथन ''शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो''-दलित विमर्श का मूलमंत्र बन गया।

12.6.3 दलित साहित्य का उद्भव

दलित विमर्श का वास्तविक प्रसार साहित्य के माध्यम से हुआ। 1960-70 के दशक में मराठी साहित्य से इसकी शुरुआत मानी जाती है। 'दलित पैंथर' आंदोलन (1972) के तहत नामदेव ढसाल, राजा ढाले, अरुण कांबले, शरण कुमार लिंबाले आदि ने दलितों के अनुभवों को साहित्यिक अभिव्यक्ति दी। इन लेखकों ने पारंपरिक साहित्यिक सौंदर्यबोध और नैतिकता को खारिज करते हुए विद्रोह, आक्रोश और अस्मिता की भावना से ओतप्रोत लेखन किया।

नामदेव ढसाल की कविताएँ केवल क्रोध नहीं, बल्कि समाज की क्रूर सच्चाई का दस्तावेज़ हैं। 'गोलपीठा' संग्रह में उन्होंने मुंबई के वंचित तबके की जटिलता और पीड़ा को जिस बेबाकी से प्रस्तुत किया, वह अभूतपूर्व था। शरण कुमार लिंबाले की आत्मकथा अक्करमाशी एक दलित व्यक्ति के जीवन की वास्तविकता को सामने लाती है और साहित्य में 'अनुभव' को 'कल्पना' से

अधिक महत्वपूर्ण ठहराती है।

12.6.4 हिंदी दलित साहित्य का विकास

मराठी के बाद हिंदी में भी दलित साहित्य ने अपनी विशिष्ट पहचान बनाई। 1990 के बाद यह आंदोलन व्यापक हुआ। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' हिंदी दलित साहित्य की ऐतिहासिक कृति मानी जाती है। इस आत्मकथा में उनके बचपन, शिक्षा और सामाजिक अपमान का ऐसा यथार्थ चित्रण है जो पाठकों को झकझोर देता है। इसी प्रकार श्योराज सिंह 'बेचैन' की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', तुलसीराम की 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' जैसी आत्मकथाएं दलित चेतना के यथार्थ को सामने लाती हैं।

दलित लेखिकाओं ने भी इस विमर्श में महत्वपूर्ण योगदान दिया। कौशल पंवार, अनिता भारती, कृष्णा किरण, बबीता राही आदि लेखिकाओं ने दलित नारी की दोहरी पीड़ा—एक तो जाति के कारण, दूसरी लिंग के कारण—को उजागर किया है। इस तरह दलित विमर्श में स्त्री विमर्श का एक उपविमर्श भी विकसित हुआ, जिसे 'दलित स्त्रीवाद' कहा जाता है।



अपनी प्रगति जाँचें

प्रश्न संख्या 4. नामदेव ढसाल, राजा ढाले किस आंदोलन से जुड़े हुए थे?

प्रश्न संख्या 5. 'जूठन' के लेखक कौन है?

12.6.5 विमर्श के विकास की प्रमुख विशेषताएँ

1. **अनुभव की केंद्रीयता :** दलित विमर्श का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उसने सैद्धांतिकता की जगह अनुभव को केंद्र में रखा। यह अनुभव जातीय अपमान, सामाजिक बहिष्कार और जीवन संघर्षों से निकला है।
2. **सांस्कृतिक प्रतिरोध :** यह विमर्श उस सांस्कृतिक सत्ता को चुनौती देता है जिसने ब्राह्मणवाद को श्रेष्ठ मानते हुए दलितों को सांस्कृतिक रूप से वंचित किया। दलित लेखकों ने मिथकों, धर्मग्रंथों और सांस्कृतिक प्रतीकों का पुनर्पाठ किया।

3. **भाषा और अभिव्यक्ति की क्रांतिकारिता :** दलित साहित्य में प्रयुक्त भाषा आम बोलचाल की है, जो कृत्रिमता से मुक्त है। यह भाषा आक्रोश, विद्रोह और अस्मिता की मांग को व्यक्त करने का सशक्त माध्यम बनती है।
4. **साहित्य के सौंदर्यशास्त्र में बदलाव :** दलित विमर्श ने साहित्य के स्थापित सौंदर्यशास्त्र को चुनौती दी और नई परिभाषा गढ़ी जिसमें यथार्थ, संघर्ष और अनुभव को महत्व मिला।

12.6.6 दलित विमर्श के आलोचनात्मक पक्ष

दलित विमर्श पर यह भी आरोप लगे कि यह केवल आक्रोश पर आधारित है और इसके पास कोई वैकल्पिक सांस्कृतिक दृष्टिकोण नहीं है। कुछ आलोचक इसे साहित्य की मर्यादाओं के विरुद्ध मानते हैं क्योंकि यह परंपरागत सौंदर्यबोध को नकारता है। लेकिन यह आलोचनाएँ तब कमजोर पड़ जाती हैं जब हम समझते हैं कि दलित साहित्य का लक्ष्य समाज को बदलना है, मनोरंजन करना नहीं।

12.7 दलित साहित्य : वर्तमान सन्दर्भ और चुनौतियाँ

भारतीय समाज एक विसंगतिपूर्ण संरचना का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें सदियों से दलितों को तुच्छ समझा गया है। यह जातिवादी मानसिकता केवल सामाजिक विभाजन को नहीं बढ़ाती, बल्कि मनुष्य के भीतर असमानता, हीनता और सत्ता-संघर्ष को जन्म देती है। दलित साहित्य इसी अन्याय के विरुद्ध एक सशक्त प्रतिरोध बनकर उभरा है, जो समाज में व्याप्त विषमता को खत्म कर समानता, स्वाभिमान और न्याय आधारित समाज के निर्माण की दिशा में कार्यरत है।दलित साहित्य का वैचारिक आधार ज्योतिबा फुले, डॉ. भीमराव अंबेडकर और गौतम बुद्ध के विचारों पर आधारित है। अंबेडकर ने दलितों में स्वाभिमान और शिक्षा की चेतना जगाकर उन्हें आत्मनिर्भर बनने का रास्ता दिखाया। उनका 'शिक्षा, संगठन और संघर्ष' का मंत्र दलित चेतना की नींव बना। अंबेडकर का मानना था कि शिक्षा के द्वारा जातिगत भेदभाव स्वत: समाप्त हो जाएगा। इसी दृष्टिकोण को दलित साहित्य में विस्तार मिला, जो शोषण, भेदभाव और अंधविश्वास के विरुद्ध चेतना का साहित्य बन गया।

दलित साहित्य केवल कला के लिए नहीं बल्कि जीवन की यथार्थता की अभिव्यक्ति है। ओमप्रकाश वाल्मीकि, कंवल भारती जैसे लेखक मानते हैं कि दलित साहित्य वही है जिसे दलितों ने अपनी पीड़ा और अनुभवों से स्वयं रचा हो। यह साहित्य प्रतीकों, मिथकों और भाषा के नए संदर्भ गढ़ता है, जिससे दलित समाज की त्रासदी और संघर्ष मुखर होकर सामने आता है। वाल्मीकि की कविता ''हजारों वर्षों का अंधेरा/ छिपा बैठा है मेरी साँसों में'' दलित चेतना की गहराई को व्यक्त करती है। दलित साहित्य में न केवल जाति बल्कि पितृसत्ता का भी विरोध है। दलित स्त्री दोहरे शोषण की शिकार है–एक ओर वह दलित है, दूसरी ओर स्त्री। उसे अपने जीवन के निर्णयों पर अधिकार नहीं, वह पुरुषों के अधीन रहती है। इसलिए दलित साहित्य में दलित स्त्री की पीड़ा, अवहेलना और संघर्ष भी महत्वपूर्ण विमर्श का हिस्सा है।

दलित साहित्य परम्परागत हिन्दू धार्मिक ग्रंथों और वर्णाश्रमी व्यवस्था को चुनौती देता है। यह मिथकों, देवी–देवताओं की पूजा और जातिगत पवित्रता की अवधारणाओं को खारिज करता है। सत्यशोधक समाज और अंबेडकर की बौद्धिक परंपरा इसे प्रेरणा देती है, जहां मानव धर्म, श्रम का सौंदर्य, करुणा और समता जैसे मूल्य केंद्रीय होते हैं। दलित चेतना केवल साहित्यिक आंदोलन नहीं बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की क्रांति है। यह वर्णविहीन, जातिविहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना को अपना लक्ष्य मानता है। इसमें सौंदर्यबोध का आधार सामाजिक यथार्थ, प्रतिरोध और परिवर्तन की आकांक्षा है, न कि केवल सौंदर्य या कलात्मकता।

दलित साहित्य ने हिन्दी साहित्य की सौंदर्य की परंपरा को चुनौती दी है। इसका सौंदर्यशास्त्र अनुभव, संघर्ष और प्रतिरोध पर आधारित है। यह सौंदर्यबोध मनुष्य की चेतना, गरिमा और मुक्ति से जुड़ा है। इसी संदर्भ में यह साहित्य न केवल दलित बल्कि पूरे समाज के लिए आवश्यक विमर्श प्रस्तुत करता है। दलितों की एकता का प्रश्न आज भी अत्यंत प्रासंगिक है। यह केवल निम्न जातियों तक सीमित नहीं रहनी चाहिए, बल्कि पिछड़े और अति–पिछड़े समुदायों को भी साथ लेकर समतावादी समाज की रचना करनी होगी। इसके लिए फुले, शाहूजी, पेरियार, अंबेडकर और लोहिया की सामाजिक चेतना को आत्मसात करना आवश्यक है।

दलित साहित्य वैश्विक स्तर पर भी अपनी पहचान बना रहा है। यह न केवल भारत की जातिगत विषमता बल्कि वैश्विक असमानताओं को भी उजागर करता है। दलित साहित्य के द्वारा जो सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक सवाल उठाए जा रहे हैं, वे व्यापक सामाजिक परिवर्तन की मांग करते हैं।

अंततः, दलित साहित्य एक सामाजिक दस्तावेज है जो भारत की जातिवादी जड़ता, सांस्कृतिक अन्याय और मानवीय अधिकारों के हनन के विरुद्ध संघर्ष करता है। यह साहित्य हाशिए पर खड़े व्यक्ति को केंद्र में लाता है और उसे उसकी गरिमा, अधिकार और पहचान दिलाने के लिए कार्यरत है। यह साहित्यिक क्रांति नहीं, बल्कि सामाजिक मुक्ति का हथियार है।

वर्तमान समय में दलित विमर्श अकादमिक जगत, साहित्यिक आलोचना और समाजशास्त्रीय विमर्शों का केंद्रीय विषय बन चुका है। विश्वविद्यालयों में दलित अध्ययन केन्द्र स्थापित हो रहे हैं। लेकिन अभी भी यह मुख्यधारा साहित्य में बराबरी का स्थान पाने के लिए संघर्षरत है। दलित लेखकों को प्रकाशन, आलोचना और पुरस्कारों के संदर्भ में कई बार उपेक्षा का सामना करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, जातीय पहचान की सीमाओं से बाहर निकल कर मानवतावादी विमर्श की ओर बढ़ना भी इसकी एक नई चुनौती है।

दलित विमर्श केवल साहित्य का एक नया अध्याय नहीं है, यह सामाजिक क्रांति का वैचारिक शस्त्र है। इसने न केवल भारतीय समाज की जातिवादी संरचना को प्रश्नांकित किया है, बल्कि उस पर गंभीर विमर्श को जन्म दिया है। इसके माध्यम से समाज के उस वर्ग की आवाज सामने आई है जिसे सदियों तक दबाया गया। दलित विमर्श ने हमें यह समझाया कि साहित्य केवल कल्पना नहीं, बल्कि समाज का दर्पण हैऔर जब वह दर्पण टूटा हुआ हो, तो उसकी दरारें ही सबसे अधिक सत्य बोलती हैं।

इस प्रकार, दलित विमर्श एक सशक्त वैचारिक यात्रा है, जो अभी जारी है और जब तक सामाजिक समानता पूर्ण रूप से स्थापित नहीं होती, तब तक यह विमर्श न केवल ज़रूरी रहेगा, बल्कि और भी सशक्त होता जाएगा।



12.6 सारांश

दलित विमर्श भारतीय समाज की सामाजिक संरचना, जातिगत भेदभाव और ऐतिहासिक अन्याय के विरुद्ध एक सशक्त वैचारिक प्रतिरोध के रूप में उभरा है। इसका उद्भव उस पीड़ित समुदाय की चेतना से हुआ है, जिसने सदियों

तक अपमान, उपेक्षा और दमन का सामना किया। डॉ. भीमराव आम्बेडकर की वैचारिक प्रेरणा ने इस चेतना को दिशा दी और दलितों को आत्मसम्मान, शिक्षा और अधिकारों के लिए संगठित संघर्ष का मार्ग दिखाया।

दलित साहित्य ने इस विमर्श को सबसे मुखर और प्रभावी रूप दिया। मराठी और हिंदी सहित अनेक भारतीय भाषाओं में दलित लेखकों ने अपने जीवनानुभवों के माध्यम से जातिवादी व्यवस्था की पोल खोली और साहित्य को नए सौंदर्यशास्त्र, नई भाषा और नए दृष्टिकोण से समृद्ध किया। आत्मकथाएं, कविताएं, कहानियां और निबंध इस विमर्श के प्रमुख माध्यम बने, जिनमें अनुभव की प्रामाणिकता, विद्रोह की चेतना और परिवर्तन की आकांक्षा स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

दलित विमर्श का महत्व केवल दलित समुदाय की आवाज बनने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह संपूर्ण भारतीय समाज को आत्मनिरीक्षण करने और सामाजिक न्याय की दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। यह विमर्श सामाजिक समरसता, समानता और लोकतंत्र की बुनियाद को मजबूत करता है।

अत: दलित विमर्श न केवल साहित्यिक आंदोलन है, बल्कि एक जीवंत सामाजिक क्रांति है, जो हाशिये पर खड़े व्यक्ति को केंद्र में लाकर उसकी गरिमा, अस्मिता और अधिकारों की पुनर्स्थापना का कार्य करता है। जब तक सामाजिक असमानताएं बनी रहेंगी, दलित विमर्श की प्रासंगिकता बनी रहेगी।

12.9 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

प्रश्न संख्या 1. उत्तर जानने के लिए इकाई को ध्यान से पढ़े।

पश्न संख्या 2. 'दलित पैंथर' आंदोलन से जुड़े हुए थे।

प्रश्न संख्या 3. का उत्तर : जानने के लिए इकाई को ध्यान से पढ़ें।

प्रश्न संख्या 4. का उत्तर : कबीर, रैदास, पीपा आदि।

प्रश्न संख्या 3. 'जूठन' आत्मकथा के लेखक है-ओमप्रकाश वाल्मीकि।

12.10 अधिक जानने के लिए पढ़े

- शरणकुमार लिंबाले, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001।

- बद्रीनारायण, दलित विमर्श और हिंदी साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005
- डॉ. भीमराव आम्बेडकर, हिंदू धर्म और उसकी आलोचना, मूल लेखन, सम्यक प्रकाशन, पुणे/दिल्ली, 1930
- चंद्रभान प्रसाद, दलित विमर्श की रूपरेखा, सम्यक प्रकाशन, दिल्ली, 2004।
- रामस्वरूप ऋषिकेश(सं), 'हिन्दी-संस्कृतकोश',सागर प्रकाशन, इलाहाबाद, 1970
- शिवराम बामन आप्टे(सं), 'संस्कृत-हिन्दी कोश', रचना प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
- भोलानाथतिवारी(सं), 'हिन्दी पर्यायवाची कोश', हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1993
- डॉ॰ कालीचरण 'स्नेही', 'हिन्दी साहित्य में दलित अस्मिता', हिन्दी बुक सेन्टर, नई दिल्ली, 1996
- श्यौराज सिंह, 'दलित-विमर्शर्ग्वर्तमान परिदृश्य', जयभीम प्रकाशन, दिल्ली, 1995
- कंवल भारती, 'दलित विमर्श की भूमिका', इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004

12.11 अभ्यास प्रश्न

क) संक्षिप्त प्रश्नों के उत्तर लिखिए :

1. डॉ. भीमराव आम्बेडकर ने दलित विमर्श को किस प्रकार वैचारिक आधार प्रदान किया?
2. 'दलित पैंथर' आंदोलन का दलित साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा?
3. ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा जूठन किस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है?
4. 'हिंदी शब्द सागर' में दलित शब्द का अर्थ क्या दिया हुआ है?
5. ओमप्रकाश वाल्मीकि ने दलित साहित्य की परिभाषा किस प्रकार दिया है?

ख) निम्नलिखित पश्नों के उत्तर लिखिए :

1. दलित विमर्श का उद्भव किन सामाजिक परिस्थितियों में हुआ, तथा इसके प्रमुख उद्देश्य क्या हैं?
2. मराठी एवं हिंदी दलित साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों और रचनाकारों का तुलनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
3. दलित विमर्श भारतीय समाज के जातिवादी ढांचे को किस प्रकार चुनौती देता है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
4. 'दलित साहित्य: वर्तमान सन्दर्भ और चुनौतियाँ' विषय पर आलेख प्रस्तुत कीजिए।
5. दलित शब्द का अर्थ, व्युत्पत्ति और सामाजिक सन्दर्भ पर विचार प्रस्तुत कीजिए।

******

इकाई 13 : आदिवासी विमर्श

इकाई की रूपरेखा

13.1 उद्देश्य

13.2 प्रस्तावना

13.3 आदिवासी शब्द का अर्थ और अस्मिता

13.4 आदिवासी विमर्श की अवधारणा

13.5 उद्भव और विकास

13.6 आदिवासी साहित्य और समकालीन सन्दर्भ

13.7 सारांश

13.8 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

13.9 अधिक जानने के लिए पढ़ें

13.10 अभ्यास पश्न

13.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप

- आदिवासी शब्द का अर्थ एवं अस्मिता के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- आदिवासी विमर्श की अवधारानाओं के बारे में जान पाएंगे।
- इससे संबंधित विभिन्न दृष्टिकोणों से अवगत हो पाएंगे।
- आदिवासी विमर्श के स्वरुप और विकास को समझ पाएंगे।
- आदिवासी साहित्य और समकालीन सन्दर्भ के बारे में जान सकेंगे।

13.2 प्रस्तावना

साहित्य समय और परिवेश के अनुसार निरंतर परिवर्तित होता है। समाज की आवश्यकताओं और बदलावों के अनुरूप साहित्य में नए आंदोलन और धाराएँ उत्पन्न होती रही हैं। यह केवल कल्पना नहीं, बल्कि रचनात्मक प्रतिरोध का माध्यम भी है। जब साहित्य में नवीनता या विकल्प की आवश्यकता महसूस होती है, तब नए विमर्श सामने आते हैं। समकालीन साहित्य इन्हीं विमर्शों का साहित्य है, जिसमें हाशिये पर पड़े वर्गों जैसे स्त्री, दलित, आदिवासी, वृद्ध, बाल, तीसरी लिंग और पर्यावरण से जुड़े मुद्दों को प्रमुखता मिली है। इन विमर्शों

में आत्मपहचान की चेतना स्पष्ट दिखाई देती है। विशेष रूप से आदिवासी विमर्श, समकालीन हिन्दी साहित्य का एक सशक्त पक्ष है। आदिवासी समुदाय ने अपनी परंपरा, संस्कृति और स्थिति को समझते हुए यह महसूस किया कि वे लगातार तिरस्कृत, उपेक्षित और शोषित रहे हैं। यह आत्मबोध उन्हें अपने अधिकारों की लड़ाई के लिए प्रेरित करता है। अपने अनुभवों और पीड़ा को स्वयं अभिव्यक्त करने की यह प्रक्रिया ही आदिवासी विमर्श का मूल है, जो आज हिन्दी साहित्य की एक जरूरी धारा बन चुका है।

आदिवासी विमर्श समकालीन भारतीय साहित्य और समाजशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण विचारधारा के रूप में उभरकर सामने आया है। यह विमर्श भारत के उन मूलनिवासी समुदायों की सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक उपेक्षा व शोषण के खिलाफ उठी चेतना का प्रतिनिधित्व करता है, जिन्हें 'जनजातियाँ' या 'आदिवासी' कहा जाता है। लंबे समय तक मुख्यधारा के साहित्य और इतिहास ने आदिवासियों को या तो पिछड़ा और अविकसित दिखाया या फिर उन्हें 'प्रकृति के बच्चे' जैसे रोमांटिक ढाँचे में बाँध दिया। लेकिन आदिवासी विमर्श इस एकांगी दृष्टिकोण का विरोध करता है और आदिवासी अस्मिता, आत्मनिर्णय और सांस्कृतिक गरिमा की माँग करता है।

आदिवासी साहित्य और चिंतन का मूल स्वर 'स्वर की तलाश' है- वह स्वर जो सदियों तक सत्ता, धर्म और शहरी शिक्षित समाज ने दबा दिया। यह विमर्श केवल शोषण की बात नहीं करता, बल्कि उस सांस्कृतिक विरासत, ज्ञान प्रणाली, जीवनशैली और प्रकृति के साथ सहअस्तित्व की उस परंपरा की भी बात करता है, जो आदिवासी समाज को विशेष बनाती है। आदिवासी विमर्श में विस्थापन, जंगल-पहाड़ों से बेदखली, खनन और विकास के नाम पर उजाड़े गए गाँव, भाषाई और सांस्कृतिक अपमान जैसे मुद्दे प्रमुखता से उठते हैं। यह विमर्श आदिवासी समाज को 'विकास के उपभोक्ता' नहीं, बल्कि 'विकास के साझेदार' के रूप में देखने की माँग करता है।

संक्षेप में, आदिवासी विमर्श न केवल एक साहित्यिक आन्दोलन है, बल्कि यह सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक आत्मनिर्भरता और अधिकारों की पुनर्स्थापना की लड़ाई है। यह विमर्श भारत की लोकतांत्रिक चेतना को व्यापक और गहरा बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

13.3 आदिवासी शब्द का अर्थ एवं अस्मिता

आदिवासी भारत के मूल निवासी हैं, जिनकी अपनी विशिष्ट सामाजिक, सांस्कृतिक और भाषाई पहचान है। ये समूह अपने पारंपरिक जीवन, दर्शन, इतिहास और भाषाओं के माध्यम से एक समृद्ध विरासत को संजोए हुए हैं। बावजूद इसके, उनके अस्तित्व को हमेशा संदेह की दृष्टि से देखा गया है। संविधान में उन्हें 'जनजाति' कहकर मुख्यधारा से अलग कर दिया गया, जिससे वे बुनियादी सुविधाओं से वंचित रह गए। शिक्षा की कमी के कारण आरक्षण जैसी सुविधाएँ भी उनके लिए प्रभावी नहीं बन पाईं।

वैश्विक मंचों पर भी, जैसे संयुक्त राष्ट्र, भारत सरकार ने आदिवासियों की उपस्थिति को स्वीकार नहीं किया है। फिर भी यू.एन.ओ. ने आदिवासियों को ऐसे पारिवारिक समूह के रूप में परिभाषित किया है, जो पारंपरिक नियमों और सांस्कृतिक आचारों का पालन करते हैं। मानव वैज्ञानिक गिलिन, टायलर और मंजुदार जैसे विद्वानों ने भी आदिवासी समाज को समान भाषा, संस्कृति, रीति-रिवाज और सामाजिक ढाँचे वाला एक आत्मनिर्भर समुदाय बताया है।

हालाँकि उन्हें आज भी असभ्य और पिछड़ा माना जाता है, लेकिन सच्चाई यह है कि वे प्रकृति के गहरे जानकार, पारंपरिक ज्ञान, औषधियों और कला के कुशल संरक्षक हैं। आज विकास के नाम पर उनके अस्तित्व और संस्कृति पर संकट है, किंतु शिक्षा और जागरूकता के प्रसार से अब वे अपनी अस्मिता को लेकर सजग हो रहे हैं। वे अपने सांस्कृतिक मूल्यों, भाषाओं और सामाजिक संस्थाओं को सुरक्षित रखते हुए आने वाली पीढ़ियों के लिए इसे संजोने हेतु संकल्पबद्ध हैं।

''आदिवासी'' शब्द भारत के मूल निवासियों का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें उनकी देशज पहचान, संस्कृति और जंगल से जुड़ा जीवन समाहित होता है। संविधान में इन्हें 'जनजाति' कहा गया है, पर यह शब्द उनकी संपूर्ण पहचान नहीं दर्शाता। कई बार 'वनवासी', 'जंगली', 'प्रिमिटिव' जैसे शब्दों से उन्हें अपमानित किया गया है। रमणिका गुप्ता के अनुसार, आदिवासी नाम छीनकर उन्हें उनकी जड़ों से काटने की कोशिश की जा रही है। वास्तव में, आदिवासी वे हैं जो प्रकृति के रक्षक हैं, जंगल में रहते हैं, अपनी संस्कृति, भाषा और जीवनशैली को सहेजकर जीते हैं। ''आज के भूमंडलीकृत युग में अस्मिता एक

अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न बन गई है। वैश्विक शक्तियाँ पूरी दुनिया पर वर्चस्व कायम करने का प्रयास कर रही हैं, ऐसे में व्यक्ति और समुदाय की पहचान एवं अस्तित्व की रक्षा आवश्यक हो गई है।

'अस्मिता' शब्द संस्कृत के 'अस्मि' धातु से आया है, जिसका अर्थ है –''मैं हूँ'', अर्थात मेरा भी अस्तित्व, आवश्यकताएँ, क्षमताएँ और निर्णय का अधिकार है। अस्मिता व्यक्ति को उसके सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश में पहचान देती है। यह सत्ता और प्रभाव के बीच अपने अधिकारों की हिस्सेदारी की माँग का प्रतीक है। आदिवासी समाज की अस्मिता उसके जल, जंगल और ज़मीन से जुड़ी होती है। उनकी भाषा, संस्कृति, जीवनशैली और परंपराएँ उनकी पहचान का आधार हैं। यदि इन मूल तत्वों की रक्षा नहीं की जाती, तो आदिवासी अस्मिता भी संकट में पड़ जाती है।

आधुनिक व्यवस्था के अंतर्गत आदिवासियों से उनके प्राकृतिक संसाधन छीने जा रहे हैं। यही कारण है कि वे आज भी शोषण और बेदखली का विरोध कर रहे हैं। इतिहास में भी आदिवासियों को हमेशा उपेक्षित किया गया। चाहे विदेशी शासन रहा हो या देशी, उनकी ज़मीनों पर अधिकार कर उन्हें बेदखल किया गया।नेहरू जी ने भी कहा था कि आदिवासियों पर संस्कृति थोपने के बजाय उनसे सीखने की ज़रूरत है।आज आदिवासी समाज अपनी पहचान बचाने के लिए संघर्ष कर रहा है, क्योंकि यदि जंगल और ज़मीन नहीं रहे, तो उनका अस्तित्व भी मिट जाएगा।



महत्वपूर्ण बिंदु

आदिवासी विमर्श हाशिए पर पड़े आदिवासी समाज की आवाज़ है, जो उनकी सांस्कृतिक पहचान, जीवनशैली और अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष करता है। यह आंदोलन शोषण, विस्थापन और सत्ता द्वारा किए गए अन्याय का विरोध करता है। आदिवासी साहित्य उनके जीवन के यथार्थ, प्रकृति से रिश्ते और संघर्ष को उजागर करता है। यह विमर्श बाहरी हस्तक्षेप के बजाय आत्मनिर्णय और स्वतंत्र अस्तित्व की मांग करता है। प्रकृति के प्रति सम्मान, शिक्षा के माध्यम से जागरूकता और सांस्कृतिक पुनरुत्थान इसकी मूल विशेषताएँ हैं। इसका उद्देश्य न्यायपूर्ण और समानतावादी समाज की स्थापना है।

13.4 आदिवासी विमर्श की अवधारणा

आदिवासी विमर्श समकालीन भारतीय साहित्य, समाजविज्ञान और संस्कृति में एक महत्वपूर्ण वैचारिक धारा के रूप में उभरकर सामने आया है। यह विमर्श भारत के उन मूल निवासी समुदायों की आवाज़ है, जिन्हें आदिवासी, जनजाति या 'ट्राइबल' कहा जाता है। यह केवल साहित्यिक आंदोलन नहीं, बल्कि सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पहचान की पुनर्प्राप्ति की संघर्षगाथा है।

आदिवासी विमर्श की अवधारणा उस ऐतिहासिक अन्याय के विरुद्ध एक वैचारिक हस्तक्षेप है, जिसमें आदिवासियों को हजारों वर्षों से मुख्यधारा से अलग-थलग रखा गया। औपनिवेशिक शासन से लेकर स्वतंत्र भारत तक, विकास, शहरीकरण, खनन और बाँध निर्माण के नाम पर आदिवासी समाज को उनके जंगलों, नदियों और ज़मीनों से बेदखल किया गया। इस प्रक्रिया में उनकी भाषाएँ, संस्कृति, परंपराएँ और जीवनदृष्टि को या तो हीन ठहराया गया या विलुप्त कर दिया गया।

आदिवासी विमर्श इसी शोषण के खिलाफ एक सशक्त प्रतिरोध है। इसका लक्ष्य केवल सहानुभूति अर्जित करना नहीं, बल्कि आदिवासी अस्मिता, संस्कृति, भाषा और अधिकारों को पुनः स्थापित करना है। यह विमर्श आदिवासी समाज को आत्मनिर्भर, स्वाभिमानी और सृजनशील समुदाय के रूप में प्रस्तुत करता है।

आदिवासी विमर्श का स्वरूप बहुआयामी है। यह साहित्य, इतिहास, मानवशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति और संस्कृति सभी क्षेत्रों में अपनी उपस्थिति दर्ज कराता है। विशेषतः साहित्य में यह विमर्श मुख्यधारा के रोमानीकरण और 'दया की दृष्टि' का प्रतिवाद करता है। इसमें आत्मकथाएँ, कहानियाँ, कविताएँ और लोकगीत जैसे माध्यमों के ज़रिये आदिवासी जीवन की सच्चाईयाँ प्रस्तुत की जाती हैं।

हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में अब आदिवासी लेखक स्वयं अपने अनुभवों और समुदाय की वास्तविकताओं को अभिव्यक्त कर रहे हैं। संथाली, गोंडी, हो, भीली जैसी भाषाओं में लेखन का विस्तार हो रहा है। हिन्दी में रमणिका गुप्ता, भगिरथ, जयप्रकाश किलेदार, नंदलाल मेघ, महाश्वेता देवी (बांग्ला) जैसे लेखकों ने आदिवासी चेतना को साहित्यिक मंच पर स्थान दिया है।

आदिवासी विमर्श केवल पीड़ा और शोषण की कथा नहीं है, बल्कि यह एक सांस्कृतिक पुनरुत्थान की परियोजना है। यह विमर्श 'विकास' के उस मॉडल को चुनौती देता है जो आदिवासियों को बिना उनकी सहमति के विस्थापित करता है। यह विकास के मानवीय, टिकाऊ और सहभागिता आधारित स्वरूप की माँग करता है।

13.5 उद्भव और विकास

आदिवासी विमर्श भारत में एक संवेदनशील और बहुआयामी विषय है, जो सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टिकोणों से जुड़ा हुआ है। आदिवासी समुदायों का इतिहास, संस्कृति और उनकी जीवनशैली को समझने का प्रयास, उनके सामाजिक न्याय, अधिकारों और विकास की दिशा को पुन: परिभाषित करता है। आदिवासी समाज की विशेषताएँ, उनकी आस्थाएँ और सांस्कृतिक धरोहर उन्हें एक विशिष्ट पहचान प्रदान करती हैं, लेकिन भारतीय समाज में उन्हें हमेशा हाशिए पर रखा गया है।

आदिवासी विमर्श की शुरुआत भारतीय समाज के शोषण और उत्पीड़न की प्रक्रिया के साथ होती है। भारत के आदिवासी समुदायों की अपनी विशिष्ट सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक पहचान है, जो भारतीय समाज के अन्य हिस्सों से भिन्न है। इन समुदायों ने प्राचीन काल से जंगलों में जीवन व्यतीत किया है और प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण संबंध स्थापित किया है। हालांकि, ब्रिटिश शासन और उसके बाद के स्वतंत्रता संग्राम के दौर में आदिवासियों की जमीनों और संसाधनों पर संकट आया। इसके बाद से आदिवासी समाज को भारतीय समाज के मुख्यधारा से बाहर रखा गया और उन्हें शोषित किया गया।

आदिवासी विमर्श का उद्भव विशेष रूप से 20वीं सदी के मध्य में हुआ, जब आदिवासी आंदोलनों ने अपनी आवाज़ उठानी शुरू की। इस दौर में कई आदिवासी नेताओं और समाज सुधारकों ने आदिवासियों के अधिकारों की बात की, जैसे शहीद बिरसा मुंडा और टी.टी. राममोहन राव। यह विमर्श उस समय से एक स्थायी आंदोलन के रूप में विकसित हुआ, जिसमें आदिवासी समाज को उनके मूल अधिकारों, भूमि, और संस्कृति के संरक्षण की आवश्यकता

महसूस होने लगी।

भारत सरकार ने आदिवासी समुदाय के विकास के लिए कई योजनाएँ बनाई हैं। जैसे आदिवासी विकास मंत्रालय, आदिवासी क्षेत्रीय विकास योजना, और स्वच्छ भारत मिशन। इन योजनाओं के तहत, आदिवासियों के शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और सामाजिक सुरक्षा के लिए विभिन्न पहल की गई हैं। हालांकि, इन योजनाओं के कार्यान्वयन में अनेक चुनौतियाँ हैं। कई आदिवासी क्षेत्रों में बुनियादी सुविधाओं का अभाव है, और पारंपरिक जीवनशैली के चलते आदिवासियों को विकास की मुख्यधारा से जोड़ना एक कठिन कार्य है।

आदिवासी समाज को विकास की मुख्यधारा में लाने के प्रयासों के बावजूद, कई समस्याएँ सामने आती हैं। भूमि अधिकारों का उल्लंघन, शोषण, असमानता, और जंगलों पर सरकारी नियंत्रण जैसे मुद्दे आदिवासी विकास की राह में बड़ी बाधाएँ हैं। इसके अलावा, आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं का अभाव भी एक गंभीर समस्या है। कई आदिवासी इलाकों में शिक्षा के स्तर में कमी और रोजगार के अवसरों का अभाव है, जिससे इन समुदायों को गरीबी और भुखमरी का सामना करना पड़ता है।

आदिवासी विमर्श में एक और महत्वपूर्ण पहलू यह है कि आदिवासी संस्कृति को संरक्षित और संवर्धित किया जाए। आज के दौर में, आदिवासी संस्कृति पर आधुनिकता का प्रभाव बढ़ रहा है, जिसके कारण कई पारंपरिक कुरीतियाँ और सामाजिक संरचनाएँ समाप्त हो रही हैं। लेकिन साथ ही, यह भी आवश्यक है कि आदिवासी समुदायों की विशिष्ट संस्कृति को सम्मान और संरक्षण मिले, ताकि वे अपनी पहचान को बचाए रख सकें।

आदिवासी विमर्श, उद्भव और विकास एक जटिल प्रक्रिया है, जिसमें आदिवासी समाज की समस्याओं और उनके अधिकारों का संवेदनशीलता से समाधान निकालने की आवश्यकता है। आदिवासी समुदायों को मुख्यधारा में लाने के लिए, उनके विकास के साथ-साथ उनकी सांस्कृतिक पहचान और जीवनशैली का सम्मान भी करना अत्यंत महत्वपूर्ण है। सरकार और समाज दोनों को मिलकर यह सुनिश्चित करना होगा कि आदिवासी समाज का समग्र विकास हो और वे समाज के मुख्य अंग बन सकें, बिना उनकी पहचान और अस्तित्व

को नुकसान पहुँचाए।



अपनी प्रगति जाँचें

प्रश्न संख्या 1. आदिवासी जीवन की जटिलताओं को साहित्यिक मंच दिलाने में किन-किन साहित्यकारों का योगदान महत्वपूर्ण था?

प्रश्न संख्या 2. वंदना टेटे के अनुसार आदिवासी साहित्य क्या है?

प्रश्न संख्या 3. आदिवासी शब्द का मूल अर्थ किया है?

प्रश्न संख्या 4. समकालीन युग के चार आदिवासी लेखक-लेखिकाओं का नाम उल्लेख कीजिए।

प्रश्न संख्या 5. 'बिरसा भगवान' के रचनाकार कौन है?

13.6 आदिवासी साहित्य और समकालीन सन्दर्भ

साहित्य वास्तव में उन वर्गों की आवाज़ है जो सदियों से शोषित, उपेक्षित और हाशिए पर रहे हैं। वे लोग अपने अधिकारों, पहचान और अस्मिता के लिए संघर्ष करते हुए साहित्य को माध्यम बनाते हैं। इसी प्रकार, आदिवासी समाज भी अपने अनुभवों और पीड़ा को साहित्य के ज़रिए व्यक्त करता है, जो उसे विशिष्ट पहचान देता है। मुख्यधारा द्वारा रचित आदिवासी विषयक साहित्य सराहनीय होने के बावजूद अनुभव की गहराई में पीछे रह जाता है, क्योंकि उसमें वह आत्मानुभव नहीं होता जो आदिवासी स्वयं महसूस करते हैं। इसलिए, आदिवासियों द्वारा लिखा गया साहित्य अधिक प्रभावशाली और सजीव होता है।

महादेव टोप्पो का मानना है कि आदिवासी साहित्य किसी एक भाषा तक सीमित नहीं, बल्कि एक जीवन-दृष्टि है। यह साहित्य उनकी संस्कृति, प्रकृति, संघर्ष और जीवन के यथार्थ को प्रतिबिंबित करता है। डॉ. माहेश्वरी गावित और डॉ. गंगा सहाय मीणा के अनुसार, आदिवासी साहित्य की शुरुआत 1960 के बाद हुई, और 1990 के आर्थिक बदलावों के बाद यह और मुखर हुआ। वंदना टेटे इसे सृजन का माध्यम मानती हैं जो प्रकृति और मानवता को जोड़ता है। इसलिए, आदिवासी साहित्य कल्पना नहीं, बल्कि जीवन का प्रतिबिंब है- अनुभव, चेतना और संघर्ष का दर्पण।

आदिवासी साहित्य का आदिकाल ई.स. 1854 पूर्व का माना जाता है, जिसे 'होड़ अवतार' या 'लोकयुग' कहा जाता है। इस समय साहित्य मौखिक रूप में विद्यमान था जिसमें कहानी, गीत, गाथाएं, कहावतें और मुहावरे शामिल थे। इस साहित्य को 'पुरखा साहित्य' भी कहा जाता है, क्योंकि आदिवासी समाज में पुरखों का विशेष महत्व है। वंदना टेटे के अनुसार, यह साहित्य पुरखों की रचना है, इसलिए इसे पुरखा साहित्य कहना उपयुक्त है।

मध्यकाल (1854–1945) को 'खेखाड़ अवतार' के रूप में जाना जाता है। इस समय संथाली और अन्य आदिवासी भाषाओं को पहली बार लिखित रूप मिला। विदेशी ईसाई मिशनरियों ने धर्म प्रचार के उद्देश्य से इन भाषाओं का व्याकरण, शब्दकोश और साहित्य तैयार किया। उन्होंने लोकगीत, कहानियों, मुहावरों का संकलन किया। रिव. पाऊल ओल बोडिंग सहित अन्य मिशनरियों ने कई पुस्तकें और पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं, जैसे 'पेड़ तथा होड़ होपोन?' और 'रेन पेज़'। 1909 में सी.एच. बोम्पास द्वारा 'फोकलोर ऑफ दि संथाल परगना' में 185 कहानियाँ संकलित की गईं।इस काल को आदिवासी साहित्य का स्वर्ण युग कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें भाषा, व्याकरण, कविता और कहानी जैसे साहित्यिक रूपों का विकास हुआ।

आदिवासी साहित्य का तीसरा युग आधुनिक काल के रूप में पहचाना जाता है। इस युग में साहित्यिक विधाओं–गीत, कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि–में लेखन अपनी परिपक्वता को प्राप्त करता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आदिवासी लेखकों में सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक चेतना का विस्तार हुआ, जिससे लेखन अधिक मुखर और जागरूक हुआ। सन् 1951 में प्रकाशित काव्य संग्रह 'एबेन आड़ाड़–जागरण आवाज' ने आज़ादी के महत्व को रेखांकित किया। इस समय में देवनागरी, बंगला, ओड़िया और रोमन लिपि में रचनाएं सामने आईं। इन्द्रजीत उरांव, ग्रेस हुजूर, नारायण सोरेन, नुअसकेरकेट्ट, पोग्र फर्नांडीस, भुजंग मेश्राम जैसे रचनाकारों की काव्य कृतियाँ इस काल को समृद्ध करती हैं।

नाटक विधा में रघुनाथ मुमू, कालीराम सोरेन, कृष्णचन्द्र टुटू, बोगला सोरेन आदि लेखकों ने समाज की सच्चाइयों को मंचित करने का प्रयास किया। नाटकों में सामाजिक जम्मिेदारी, आदिवासी जीवन की जटिलताएं तथा ऐतिहासिक संघर्षों की झलक दिखाई देती है। मंचीय सीमाओं के बावजूद इन नाटकों ने

साहित्य को नई दिशा दी।

उपन्यास लेखन की दृष्टि से आधुनिक युग अत्यंत समृद्ध रहा है। 1956 में आर.आर. किस्कू राबाज द्वारा लिखित 'हाडमावा आतु' को आदिवासी उपन्यास साहित्य की शुरुआत माना जाता है। इसके बाद नुनकू सोरेन, सी. मुरमू, चंद्रमोहन, कृष्णचंद्र हेम्ब्रम, भागवत मुरमू, दिवेंद्र टुडू, पीटर पॉल एक्का, वाल्टर भेंगरा, शंकर लाल मीणा जैसे रचनाकारों ने सामाजिक, ऐतिहासिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यासों का सृजन किया। इन उपन्यासों में बिरसा मुंडा के नेतृत्व में हुए उलगुलान, आदिवासी जीवन की रूढ़ियाँ, अंधविश्वास, शोषण, संघर्ष और परिवर्तन की भावनाएँ मुखरित हैं।

कहानी विधा की शुरुआत सन् 1942 में चुनकुराम टुडू की 'उलचाकती' से हुई, जो 'मारसाल' पत्रिका में प्रकाशित हुई। इसके बाद निरबल सोरेन द्वारा संपादित 'गाथाव माला' और डोमन साहू द्वारा 'मायाजाल' जैसे संग्रह प्रकाशित हुए। समकालीन लेखकों मंव प्यार केरकेट्टा, पीटर पॉल एक्का, मंजू ज्योत्सना, वाल्टर भेंगरा, शंकर लाल मीणा, रोज केरकेट्टा, रामधन लाल मीणा आदि ने आदिवासी समाज के यथार्थ, संघर्ष, विस्थापन और सांस्कृतिक संकटों को कहानियों में चित्रित किया है।सिर्फ साहित्यिक विधाओं तक सीमित न रहकर इस काल में निबंध, लेख, आत्मकथाएं और जीवनी लेखन की भी शुरुआत हुई। बिरसा मुंडा की प्रथम जीवनी मुचिराय मुंडा ने 1951 में 'बिरसा भगवान' नामक कृति में लिखी। इसके बाद अनेक ग्रंथों में बिहार के स्वतंत्रता संग्राम, आदिवासी आंदोलनों और सामाजिक बदलावों पर प्रकाश डाला गया।

इसके अतिरिक्त व्याकरण और शब्दकोश निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। 'संथाली शब्दकोश', 'संथाली व्याकरण', 'मुंडारी भाषा', 'कुदुम मुराई' जैसी पुस्तकों के माध्यम से भाषिक संरचना को साहित्यिक आधार प्रदान किया गया।

इस प्रकार आधुनिक काल का आदिवासी साहित्य न केवल विविध विधाओं में समृद्ध हुआ, बल्कि समाज के ज्वलंत मुद्दों को अभिव्यक्ति देने वाला एक स्वतंत्र, सशक्त और चेतनशील साहित्यिक आंदोलन बनकर उभरा। यह साहित्य अपनी मौलिकता, आत्मस्वर और सांस्कृतिक अस्मिता के साथ अन्य किसी भी साहित्य से कमतर नहीं है, बल्कि अपने अस्तित्व और सरोकारों के साथ एक विशिष्ट पहचान रखता है।

समकालीन आदिवासी लेखन की नींव उदारीकरण, भूमंडलीकरण और बाजारवाद के दौर में पड़ी, जब आदिवासी समाज शिक्षा और जागरूकता के चलते अपने अस्तित्व, शोषण और अधिकारों के प्रति सचेत हुआ। नई आर्थिक नीतियों और निजीकरण ने आदिवासी जीवन को प्रभावित किया, जिससे उनके पारंपरिक रोजगार, जीवनशैली, भाषा और संस्कृति पर संकट गहराया। इस चेतना ने साहित्य में प्रतिरोध का रूप लिया, विशेषकर समकालीन हिन्दी आदिवासी उपन्यासों में।

भूमंडलीकरण की नीतियों ने जहां पूंजी को बढ़ावा दिया, वहीं आदिवासी समाज को विस्थापन, गरीबी और बेरोजगारी की ओर धकेल दिया। जल, जंगल और जमीन से बेदखल होते आदिवासी अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए साहित्य को माध्यम बना रहे हैं। रमणिका गुप्ता और मैनेजर पांडे जैसे चिंतकों ने इन नीतियों की आलोचना करते हुए आदिवासी संकट को उजागर किया। आदिवासी उपन्यासकारों ने अपने अनुभवों और सामाजिक यथार्थ को कथा रूप में प्रस्तुत किया। सन्तोष प्रीतम का पलाश का फूल, पीटर पॉल एक्का का मौनघाटी, मधुकर सिंह का बाजद अनहद ढोल, अश्विनी कुमार पंकज का माटी माटी अरकाटी जैसे उपन्यास आदिवासी जीवन के विविध पहलुओं को सामने लाते हैं। ये रचनाएँ आदिवासी अस्मिता की खोज, अन्याय के प्रतिरोध और सांस्कृतिक संरक्षण का साहित्यिक हस्तक्षेप हैं। समकालीन आदिवासी उपन्यास वास्तव में उनके जीवन के संघर्षों का सजीव दस्तावेज़ हैं।



13.7 सारांश

आदिवासी विमर्श का उद्भव भारतीय समाज में आदिवासियों के अधिकारों और स्थिति की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए हुआ। आदिवासी समुदायों का अपना विशिष्ट सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन है, जो उन्हें भारतीय समाज की मुख्यधारा से अलग करता है। ब्रिटिश शासन के दौरान आदिवासियों के अधिकारों का उल्लंघन हुआ, जिससे उनका शोषण बढ़ा। इस प्रक्रिया में आदिवासी समाज की जमीन, संसाधन और सांस्कृतिक पहचान को नुक्सान हुआ। इसके बाद 20वीं सदी में आदिवासी आंदोलनों ने जोर पकड़ा, जिनमें बिरसा मुंडा और अन्य आदिवासी नेता शामिल थे, जिन्होंने आदिवासियों

के अधिकारों की रक्षा की।

आदिवासी विमर्श का विकास समाज में आदिवासी समुदाय के मुद्दों को प्रमुखता देने के प्रयासों के रूप में हुआ। इसके तहत, आदिवासियों के भूमि अधिकार, शैक्षिक विकास, और सामाजिक न्याय की बातें की गईं। सरकारी योजनाओं और आंदोलनों के माध्यम से आदिवासियों के जीवन स्तर को सुधारने की कोशिश की गई। हालांकि, विकास के बावजूद आदिवासी समाज को कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जैसे भूमि अधिग्रहण, शिक्षा और स्वास्थ्य की कमी, और उनके पारंपरिक जीवनशैली पर संकट।

आदिवासी विमर्श का महत्व इस बात में है कि यह समाज के सबसे उपेक्षित वर्ग की आवाज़ को मजबूती से उठाता है। यह न केवल आदिवासियों के अधिकारों की रक्षा करता है, बल्कि उनकी संस्कृति और पहचान को भी संरक्षित रखने का प्रयास करता है। आदिवासी समाज का विकास समाज के समग्र विकास के लिए आवश्यक है, क्योंकि यदि आदिवासी समाज सशक्त होगा, तो समग्र समाज भी प्रगति की दिशा में आगे बढ़ेगा।

आदिवासी विमर्श का उद्देश्य आदिवासियों के अधिकारों, पहचान और विकास की दिशा को स्पष्ट करना है। यह न केवल उनके उत्थान के लिए आवश्यक है, बल्कि समाज के समग्र विकास के लिए भी महत्वपूर्ण है। आदिवासी समाज की समस्याओं का समाधान करने से एक समावेशी और समान समाज की ओर कदम बढ़ सकते हैं।

13.8 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

पश्न संख्या 1. का उत्तर : हिन्दी साहित्य में रमणिका गुप्ता, महाश्वेता देवी, भगिरथ, नन्दलाल मेघ, शिवशंकर परिहार जैसे लेखकों ने आदिवासी जीवन की जटिलताओं को साहित्यिक मंच पर स्थान दिया।

प्रश्न संख्या 2. का उत्तर : यह साहित्य पुरखो की रचना है।

प्रश्न संख्या 3.का उत्तर : आदिवासी शब्द भारत के मूल निवासियों को प्रतिनिधित्व करता है।

प्रश्न संख्या 4 का उत्तर पाने के लिए इकाई को ध्यान से पढ़ें।

प्रश्न संख्या 5 का उत्तर : मुचिराय मुंडा।



13.9 अधिक जानने के लिए पढ़ें

- रमणिका गुप्ता, आदिवासी अस्मिता का संकट, सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2013
- रमणिका गुप्ता (सं),आदिवासी अस्मिता की पड़ताल करते साक्षात्कार, स्वराज प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2012
- अनुज लुगुन (सं),जनाब अस्मिता: प्रभुत्व और प्रतिरोध, अनन्य प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2015
- डॉ. उषा राणावत, आदिवासी केन्द्रित हिंदी साहित्य,अतुल प्रकाशन कानपुर, सं. 2012
- रमणिका गुप्ता,आदिवासी कौन, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, 2008
- गंगा सहाय मीणा,आदिवासी चिंतन की भूमिका,अनन्य प्रकाशन दिल्ली, 2017
- डॉ. अर्जुन दासकेशरी,आदिवासी जीवन, लोकराचि प्रकाशन संग्रह, 2013
- रमणिका गुप्ता(सं), आदिवासी भाषा और शिक्षा,स्वराज प्रकाशन नई दिल्ली, 2012
- डॉ. रमणिका गुप्ता,आदिवासी विकास से विस्थापन,राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, 2008
- गंगा सहाय मीणा(सं), आदिवासी साहित्य विमर्श,अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स प्रा. लि. नई दिल्ली, 2014

13.10 अभ्यास प्रश्न

क) संक्षिप्त प्रश्नों का उत्तर दीजिए :

1. आदिवासी विमर्श का मुख्य उद्देश्य क्या है?
2. आदिवासी साहित्य किन मुख्य समस्याओं को उजागर करता है?
3. 'धरती आबा' उपन्यास किसने लिखा और इसका महत्व क्या है?
4. 'अस्मिता' शब्द का अर्थ क्या है?
5. समकालीन आदिवासी साहित्य लेखन की नींव क्या है?

ख) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखिए :

1. आदिवासी विमर्श की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए बताइए कि यह दलित और स्त्री विमर्श से किस प्रकार भिन्न है।
2. आदिवासी साहित्य में सांस्कृतिक अस्मिता और प्रकृति से जुड़ाव का किस प्रकार चित्रण होता है? उदाहरण सहित समझाइए।
3. समकालीन हिंदी आदिवासी लेखकों की प्रमुख कृतियों और उनके सामाजिक योगदान पर विस्तार से चर्चा कीजिए।
4. आदिवासी साहित्य और समकालीन सन्दर्भ पर एक आलेख प्रस्तुत कीजिए।
5. आदिवासी शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसके साथ जुड़े अस्मिता के प्रश्न पर चर्चा कीजिए।

******

इकाइ 14 : किन्नर विमर्श

इकाई की रूपरेखा

14.1 उद्देश्य

14.2 प्रस्तावना

14.3 किन्नर समुदाय का सामान्य परिचय, अर्थ एवं परिभाषा

14.4 किन्नर विमर्श की अवधारणा और स्वरुप

14.5 उद्भव और विकास

14.6 भारतीय सन्दर्भ में किन्नर विमर्श और भारतीय साहित्य में उसका प्रभाव

14.7 सारांश

14.8 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

14.9 अधिक जानने के लिए पढ़ें

14.10 अभ्यास प्रश्न

14.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप

- किन्नर समुदाय के अर्थ एवं परिभाषा से अवगत हो सकेंगे।
- किन्नर विमर्श की अवधारानाओं के बारे में जान पाएंगे।
- इससे संबंधित विभिन्न दृष्टिकोणों से अवगत हो पाएंगे।
- किन्नर विमर्श के स्वरुप और विकास को समझ पाएंगे।
- हिंदी साहित्य के विविध विधाओं में चित्रित किन्नर विमर्श से परिचित हो सकेंगे।

14.2 प्रस्तावना

साहित्य ने समाज में चेतना और जागरूकता फैलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। विभिन्न रचनाकारों ने अपने समय और परिवेश के अनुसार समाज की समस्याओं को यथार्थ रूप में प्रस्तुत कर नई दिशा देने का कार्य किया है। स्वतंत्रता के बाद उभरी सामाजिक चुनौतियों ने अस्मिता और अस्तित्व के सवाल खड़े किए, जिन पर साहित्यकारों ने गहन विमर्श प्रस्तुत किया। स्त्री,

दलित, आदिवासी, किन्नर जैसे हाशिए पर धकेले गए वर्गों की समस्याओं को कथा साहित्य ने संवेदनशीलता से उठाया है। विशेषकर किन्नर विमर्श ने हाल के वर्षों में साहित्य में अपनी जगह बनायी है।

समाज की विविधता में प्रत्येक व्यक्ति की पहचान, गरिमा और अधिकारों को मान्यता देना एक सशक्त लोकतंत्र की पहचान है। इसी संदर्भ मेंकिन्नर विमर्श (या ट्रांसजेंडर विमर्श) आधुनिक सामाजिक और साहित्यिक चिंतन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन चुका है। यह विमर्श न केवल किन्नर समुदाय की पहचान, संघर्ष और अधिकारों की बात करता है, बल्कि समाज की उस मानसिकता को भी चुनौती देता है जो उन्हें हाशिए पर रखती आई है।

किन्नर समुदाय भारतीय समाज का प्राचीन हिस्सा रहा है। ऐतिहासिक और धार्मिक ग्रंथों में भी इनकी उपस्थिति दर्ज है- कभी आशीर्वाद देने वाले शुभचिंतक के रूप में, तो कभी सामाजिक रस्मों में सहभागी के रूप में। परंतु आधुनिक काल में यह समुदाय उपेक्षा, उपहास और भेदभाव का शिकार बना रहा। शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और सामाजिक स्वीकृति के क्षेत्रों में इन्हें लंबे समय तक दरकिनार किया गया।

किन्नर विमर्श का उद्देश्य इस हाशिए पर धकेले गए समुदाय को पुनः सामाजिक मुख्यधारा में लाना है। यह विमर्श लैंगिक पहचान, सामाजिक न्याय, संवैधानिक अधिकार और मानवीय गरिमा के प्रश्नों को केंद्र में रखता है। साहित्य, सिनेमा, मीडिया और कानून के क्षेत्र में इस विमर्श की सक्रिय उपस्थिति देखने को मिल रही है, जिससे धीरे-धीरे समाज में चेतना और संवेदनशीलता का संचार हो रहा है।

अतः किन्नर विमर्श केवल एक सामाजिक विषय नहीं, बल्कि एक व्यापक मानवीय प्रश्न है, जो हमें समावेशिता, समानता और करुणा की ओर उन्मुख करता है। इसकी गहराई से समझ आवश्यक है ताकि हम एक समतामूलक और न्यायपूर्ण समाज की कल्पना को साकार कर सकें।

14.3 किन्नर समुदाय का सामान्य परिचय, अर्थ एवं परिभाषा

समाज में लंबे समय से हाशिये पर रहने वाले वर्गों की उपस्थिति तो रही है, पर उन्हें बराबरी का अधिकार देने में सदैव उपेक्षा ही की गई। ऐतिहासिक और वैश्विक परिप्रेक्ष्य में देखने पर भी 'किन्नर समुदाय' को सामान्य मानवाधिकारों

से वंचित रखा गया। साहित्य और इतिहास दोनों में ही यह समुदाय दोयम दर्जे का जीवन जीने को मजबूर रहा है। आज भी इनके साथ किया जाने वाला व्यवहार अमानवीयता की सीमाएं पार कर चुका है।समाज ने स्त्री और पुरुष के निर्धारित ढांचे में ही मानवीयता की परिभाषा गढ़ी है। इससे इतर जो भी लैंगिक पहचान रखता है, उसे सामाजिक स्वीकृति नहीं दी जाती। यद्यपि संविधान ने 21वीं सदी में इन्हें अधिकार दिए हैं, पर सामाजिक सोच अब भी उन्हें अपनाने को तैयार नहीं है। किन्नरों की उपस्थिति कोई नई बात नहीं है, परंतु उन्हें आज भी उनके घर, परिवार और समाज से बहिष्कृत किया जाता है।

किन्नर समुदाय को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है–जैसे अरावनी, छक्का, मामू, ख्वाजासरा, तृतीयलिंगी आदि। ये नाम भले विविध हों, परंतु इनमें छिपा तिरस्कार एक समान है। समाज द्वारा ठुकराए जाने के बाद इन्होंने स्वयं का समुदाय खड़ा किया, क्योंकि जन्म देने वाले माता–पिता ने भी उन्हें स्वीकारने से इंकार कर दिया। यह समुदाय बिना किसी हिंसा के अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है।दुनिया के विभिन्न हिस्सों में अलग–अलग नामों से पहचाने जाने वाले इस समुदाय को धीरे–धीरे संवैधानिक मान्यता मिल रही है। दक्षिण एशिया में 'हिजड़ा', थाईलैंड में 'कैथोय' और मैक्सिको में 'मक्स' के नाम से इनकी पहचान बनी है। लगभग 175 देशों में इन्हें 'थर्ड जेंडर' के रूप में स्वीकारा गया है।

समाज ने लैंगिक असमानता को अभिशाप बना दिया है। ऐसे बच्चों को अभिशप्त मानकर उनके माता–पिता भी त्याग देते हैं। मानसिक व शारीरिक रूप से सक्षम होने पर भी सिर्फ लैंगिक पहचान के कारण इनसे नफरत की जाती है।आज भी हम 'वसुधैव कुटुंबकम्म' की बातें करते हैं, लेकिन जब बात किन्नरों की आती है तो उन्हें हीन दृष्टि से देखते हैं। पौराणिक काल से लेकर आधुनिक साहित्य तक किन्नरों का योगदान रहा है, फिर भी उन्हें केवल उपयोग और उपभोग की वस्तु समझा गया।

हमारे मन–मष्तिष्क में ''किन्नर'' शब्द आते ही एक विशेष छवि उभरती है–ऐसी छवि जो बाहरी रूप में स्त्री जैसी दिखे, परंतु आवाज़ और व्यवहार में पुरुषों जैसी हो। सड़कों पर या ट्रेनों में चंद पैसों के लिए तालियाँ बजाते, नाचते, आशीर्वाद देते या धमकाते हुए जो रूप दिखता है, वही समाज ने किन्नरों की पहचान मान ली है। अक्सर यह बाहरी रूप भय या असहजता उत्पन्न करता

है। लेकिन इस छवि के पीछे की संवेदनाएँ, संघर्ष और वेदनाएँ शायद ही कभी समझी गईं।समाज ने किन्नरों को सिर्फ एक मनोरंजक या डरावना पात्र बनाकर छोड़ दिया, और कहीं न कहीं इस छवि को बनाने में किन्नर समुदाय की रहस्यमयी जीवनशैली और समाज से दूरी भी जिम्मेदार रही है।

आज जब 'ट्रांसजेंडर' शब्द वैश्विक पहचान बन चुका है, तब यह समझना ज़रूरी हो गया है कि लिंग पहचान एक आंतरिक अनुभूति है, न कि कोई सामाजिक लादे गए व्यवहार का परिणाम। व्यक्ति का चाल-चलन, परिधान और अभिव्यक्ति उसके आत्मबोध का हिस्सा होते हैं। ऐसे में समाज और ट्रांसजेंडर समुदाय-दोनों को मिलकर इस दूरी को कम करने की आवश्यकता है ताकि एक समावेशी भविष्य का निर्माण हो सके।

विभिन्न विद्वानों ने अपने अथक प्रयासों से विश्वभर में प्रचलित विभिन्न भाषाओं के शब्दों को उनके अर्थ सहित सामान्यजन तक उपलब्ध करवाने के लिए शब्दकोश का संकलन किया। इस समुदाय के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग होता है जिनका मूल अर्थ भी शब्दकोशों में बताया गया है।

वृहत संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश में ''किन्नर'' शब्द का प्रयोग तीन विभिन्न आशयों में किया गया है। पहला अर्थ उस व्यक्ति के लिए है जिसे या तो शारीरिक रूप से विकृत माना गया हो अथवा जिसे समाज बुरे रूप में देखता हो। यह दृष्टिकोण शारीरिक भिन्नताओं को ही विकृति के रूप में देखने की मानसिकता को दर्शाता है।

संस्कृत-हिंदी-अंग्रेज़ी शब्दकोश में ''किन्नर'' शब्द का उल्लेख देवताओं की एक विशेष जाति के रूप में किया गया है, जिनका मुख मानव जैसा होता है जबकि उनके जननांग अश्व के समान होते हैं। इस प्रकार, उनका ऊपरी शरीर मानव का और निचला भाग घोड़े के शरीर जैसा माना गया है।

नालंदा विशाल शब्द सागर में इस समुदाय के लिए दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। पहला है ''किंपुरुष'', जिसका अर्थ है-''किन्नर, द्विजातीय, वर्णसंकर अथवा पतित व्यक्ति'', अर्थात वह जो दो विभिन्न वर्णों के संयोग से उत्पन्न हुआ हो या जिसे सामाजिक दृष्टि से निम्न स्थान प्राप्त हो। दूसरा शब्द है ''किन्नर'', जिसे एक प्रकार का दिव्य प्राणी माना गया है, जिसका मुख घोड़े के समान बताया गया है और जिसे गान तथा वादन में निपुण एक जाति के रूप में भी वर्णित किया गया है।

वहीं, ''ज्ञानमंडल के वृहत हिंदी कोश'' में ''किंपुरुष'' शब्द का अर्थ

जम्बूद्वीप के एक विशेष खंड में निवास करने वाले लोगों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अंग्रेज़ी भाषा में ट्रांसजेंडर या हिजड़ा समुदाय को दर्शाने के लिए कई अलग-अलग शब्दों का प्रयोग हुआ है। एडवांस लर्निंग डिक्शनरी में 'spado' नामक शब्द का उल्लेख किया गया है, जो एक ऐसा व्यक्ति होता है जो जैविक रूप से संतान उत्पन्न करने में असमर्थ होता है। इस शब्द का प्रयोग अक्सर उन लोगों के लिए किया जाता है जिनमें शारीरिक कारणों से प्रजनन क्षमता नहीं होती या जो पारंपरिक पुरुष विशेषताओं से वंचित होते हैं।

इस सन्दर्भ में, किन्नर या हिजड़ा समुदाय के सदस्य वे माने जाते हैं जो प्रजनन की सामान्य प्रक्रिया में भाग लेने में अक्षम होते हैं और जिनमें पुरुषत्व के पारंपरिक गुण आंशिक या पूर्ण रूप से नहीं पाए जाते।

दूसरा अर्थ पुराणों में वर्णित एक विशिष्ट रूप के प्राणी के रूप में मिलता है, जिसमें किन्नर वह जीव है जिसका सिर घोड़े का और शरीर का शेष भाग मानव का होता है। इस रूप में किन्नर एक ऐसे प्राणी का प्रतीक है जिसमें पशु और मानव दोनों के गुण एक साथ विद्यमान हैं।

तीसरा अर्थ ''किन्नर'' को कुबेर देवता का विशेषण मानते हुए प्रस्तुत किया गया है, जहाँ यह शब्द देवताओं की एक विशिष्ट जाति या वर्ग को इंगित करता है। इन तीनों संदर्भों से स्पष्ट होता है कि ''किन्नर'' शब्द का प्रयोग कभी विकृति, कभी अद्वितीयता और कभी दिव्यता से जुड़ी विशेषताओं को दर्शाने के लिए किया गया है।

लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी ने अपनी आत्मकथा में 'हिजड़ा' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए 'किन्नर' शब्द को स्वीकार किया है। उन्होंने बताया कि 'हिजड़ा' शब्द मूलतः उर्दू भाषा से लिया गया है, जो 'हिजर' नामक अरबी शब्द से बना है। 'हिजर' का अर्थ होता है-अपने समुदाय से अलग हो जाना, उस समाज से बाहर निकल जाना। इस तरह 'हिजड़ा' शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त होता है जो स्त्री और पुरुष की परंपरागत परिभाषाओं से परे एक स्वतंत्र समुदाय का निर्माण करते हैं। त्रिपाठी के अनुसार, वर्तमान समय में 'हिजड़ा' शब्द का प्रयोग अपमानजनक अर्थों में गाली की तरह किया जाने लगा है।



महत्वपूर्ण बिंदु

किन्नर विमर्श किन्नर समुदाय की पहचान, अधिकारों और सामाजिक स्वीकार्यता की लड़ाई है। यह विचारधारा समाज द्वारा किए गए लैंगिक भेदभाव, बहिष्करण और अपमान का विरोध करती है। किन्नर साहित्य उनके जीवन के संघर्षों और भावनाओं को सामने लाता है। यह विमर्श केवल तीसरे लिंग को मान्यता दिलाने तक सीमित नहीं, बल्कि समान अधिकार, शिक्षा, रोजगार और सामाजिक सम्मान की भी मांग करता है। यह लैंगिक विविधता को स्वीकार कर एक समावेशी समाज की स्थापना की ओर बढ़ता है जहाँ हर व्यक्ति को समान गरिमा के साथ जीने का अधिकार हो।

14.4 किन्नर विमर्श अवधारण और स्वरुप

किन्नर विमर्श समकालीन सामाजिक और साहित्यिक चिंतन की एक महत्वपूर्ण शाखा है, जो ट्रांसजेंडर अथवा तृतीय लिंग समुदाय से जुड़े मुद्दों, अधिकारों और अस्तित्व को केंद्र में रखता है। यह विमर्श उस पारंपरिक सोच को चुनौती देता है जो लिंग को केवल दो खांचों— स्त्री और पुरुष— में बाँधती है, और उन सभी व्यक्तियों को हाशिए पर रख देती है जो इस बायनरी ढांचे में फिट नहीं बैठते।

अवधारणा की दृष्टि से, किन्नर विमर्श का उद्देश्य केवल किन्नरों की उपस्थिति को स्वीकार करना नहीं है, बल्कि उनके सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों की स्थापना करना भी है। यह विमर्श लिंग की जैविक अवधारणा से आगे जाकर पहचान, आत्मसम्मान और सामाजिक स्वीकृति की माँग करता है। इसमें यह विचार निहित है कि किन्नर भी उतने ही सम्मान और अवसरों के अधिकारी हैं जितना कोई अन्य नागरिक।

स्वरूप की दृष्टि से, किन्नर विमर्श बहुआयामी है। यह साहित्य, मीडिया, सिनेमा, शिक्षा, कानून और जनचेतना के विभिन्न स्तरों पर सक्रिय है। साहित्य में कई लेखकों और कवियों ने किन्नर समुदाय की व्यथा, संघर्ष और संवेदनाओं को अभिव्यक्त किया है। विशेष रूप से लिंगभेद, अपमान, अस्वीकार्यता

और हिंसा जैसे मुद्दों को रचनात्मक माध्यमों से सामने लाया गया है।

हाल के वर्षों में संविधानिक स्तर पर भी इस विमर्श को समर्थन मिला है। भारत का सर्वोच्च न्यायालय 2014 केनालसा बनाम भारत सरकारफैसले के माध्यम से किन्नरों को 'थर्ड जेंडर' के रूप में मान्यता दे चुका है, जिससे उनके अधिकारों की संवैधानिक पुष्टि हुई है।

इस प्रकार, किन्नर विमर्श केवल एक विमर्श नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय की ओर उठाया गया एक सशक्त कदम है। यह हमें एक समावेशी, समानतामूलक और करुणाशील समाज की दिशा में सोचने को प्रेरित करता है, जहाँ हर व्यक्ति की पहचान और गरिमा को मान्यता मिले।

14.5 उद्भव और विकास

किन्नर विमर्श समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक चेतना का एक आवश्यक और प्रभावशाली हिस्सा बन चुका है। यह विमर्श उस तृतीय लिंगी समुदाय की समस्याओं, संघर्षों और अधिकारों पर केंद्रित है जिसे लंबे समय तक समाज के हाशिए पर रखा गया। सामाजिक बहिष्कार, अपमान, हिंसा और अस्वीकार्यता के बावजूद किन्नर समुदाय ने अपनी अस्मिता और अधिकारों के लिए आवाज़ उठाई, और यही आवाज़ धीरे-धीरे एक संगठित विमर्श का रूप लेने लगी।

उद्भव की पृष्ठभूमि :

किन्नर विमर्श का मूल उद्भव मानवाधिकार और लैंगिक समानता की व्यापक बहस से जुड़ा है। पश्चिम में सत्तर के दशक में शुरू हुआ LGBTQ+ आंदोलनधीरे-धीरे विश्वभर में फैलने लगा। भारत में भी इस आंदोलन की प्रेरणा से किन्नर समुदाय ने अपने अस्तित्व की पहचान और अधिकारों की माँग के लिए आवाज़ उठाई। साहित्य, मीडिया, न्यायालय और जनचेतना में इस विषय पर चर्चाएं प्रारंभ हुईं।

भारत में 2014 कानालसा बनाम भारत सरकार (NALSA v. Union of India) फैसला इस विमर्श का ऐतिहासिक मोड़ बना। इस फैसले के तहत सर्वोच्च न्यायालय ने किन्नरों को 'तृतीय लिंग' के रूप में संवैधानिक मान्यता दी और उनके समान अधिकारों की पुष्टि की। इसके पहले तक किन्नर समुदाय कानूनी और सामाजिक दृष्टि से अदृश्य था।

विकास की प्रक्रिया :

किन्नर विमर्श का विकास विभिन्न क्षेत्रों में समानांतर रूप से हुआ है —

1. **साहित्य :** हिंदी सहित अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में किन्नर समुदाय की पीड़ा, संघर्ष और संवेदनाओं को जगह मिलने लगी। ललिता कुमार, अर्चना सिंह 'किसलय', ट्रांसजेंडर लेखिकारिवती राव, औरगौरी सावंतजैसी हस्तियों ने आत्मकथात्मक और वैचारिक लेखन के माध्यम से इस विमर्श को स्वर दिया।
2. **मीडिया और सिनेमा :** 'तमन्ना', 'नवल एन हंसल', 'लक्ष्मी', और 'शेर्ली' जैसे फिल्मों और वेब श्रृंखलाओं में ट्रांसजेंडर चरित्रों को केंद्र में रखकर समाज की सोच को बदलने का प्रयास हुआ।
3. **कानून और नीति :** 2019 में बना Transgender Persons (Pro tection of Rights) Act एक महत्वपूर्ण कानून है, जो शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य और सम्मानपूर्वक जीवन जीने के अधिकार की रक्षा करता है।
4. **सामाजिक सक्रियता :** देशभर में ट्रांसजेंडर कार्यकर्ताओं और संगठनों ने किन्नर अधिकारों के लिए जागरूकता अभियान चलाए हैं। 'हिजड़ा हब', 'साहित्यकर्मी संस्था' जैसी पहलें इस विमर्श को जमीनी स्तर तक ले गई हैं।

किन्नर विमर्श का उद्भव सामाजिक अन्याय के विरोध और समानता की आकांक्षा से जुड़ा हुआ है, जबकि इसका विकास विविध मंचों पर सक्रिय भागीदारी के माध्यम से हुआ है। यह विमर्श न केवल किन्नर समुदाय की पहचान और अधिकारों की बात करता है, बल्कि समाज को अधिक मानवीय, समावेशी और संवेदनशील बनाने की दिशा में भी एक महत्वपूर्ण प्रयास है। किन्नर विमर्श आज केवल एक वर्ग विशेष की लड़ाई नहीं, बल्कि एक व्यापक मानवीय संघर्ष का प्रतीक बन चुका है।

14.6 भारतीय सन्दर्भ में किन्नर विमर्श और भारतीय साहित्य में उसका प्रभाव

भारतीय समाज में किन्नर समुदाय का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अस्तित्व रहा है, किंतु आधुनिक काल में यह समुदाय सामाजिक उपेक्षा, भेदभाव

और उपहास का शिकार बना। इस पृष्ठभूमि मेंकिन्नर विमर्शसमकालीन भारत में एक सशक्त सामाजिक और साहित्यिक आंदोलन के रूप में उभरा, जिसका उद्देश्य किन्नरों को सामाजिक स्वीकृति, समान अधिकार और गरिमामय जीवन दिलाना है।

भारत में 2014 के NALSA बनाम भारत सरकारके ऐतिहासिक फैसले ने किन्नरों को 'तृतीय लिंग' की संवैधानिक मान्यता दी, जिससे इस विमर्श को औपचारिक गति मिली। इसके बाद 2019 में बने Transgender Persons (Protection of Rights) Act ने उनके अधिकारों की रक्षा के लिए कानूनी आधार प्रदान किया। ये दोनों घटनाएं न केवल सामाजिक बदलाव की सूचक थीं, बल्कि साहित्यिक रचनाओं में भी नई चेतना का संचार हुआ।

हिंदी साहित्य की उपन्यास विधा केवल कल्पना की उड़ान नहीं है, बल्कि यह समाज का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करती है। उपन्यासों के माध्यम से समाज की वास्तविक स्थिति, मानवीय संवेदनाएँ, सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन और परिष्कार को व्यापक दृष्टिकोण से पाठकों के समक्ष लाया जाता है। उपन्यास जीवन और संसार के विविध पहलुओं की उद्देश्यपूर्ण प्रस्तुति करता है, जिसमें मनुष्य की आंतरिक अनुभूतियों और बाह्य सामाजिक परिवेश के बीच की कड़ी स्पष्ट होती है। मनुष्य के अनुभव, संबंध, संघर्ष और संवेदनाएँ जब उपन्यास में आकार लेती हैं, तो साहित्य एक सामाजिक दस्तावेज बन जाता है।

इक्कीसवीं सदी में जब साहित्य में विविध विमर्शों की प्रधानता बढ़ी, तब उपन्यास विधा ने स्त्री, दलित, आदिवासी के साथ-साथ किन्नर विमर्श को भी मुखरता दी। अनेक लेखकों ने उपन्यासों के माध्यम से किन्नर समुदाय की पीड़ा, संघर्ष, पहचान की खोज और सामाजिक उपेक्षा को रेखांकित किया। इन उपन्यासों ने किन्नरों की आशाएँ, सपने, शारीरिक भिन्नताओं, भावनात्मक द्वंद्वों तथा सामाजिक अवहेलना को गंभीरता से प्रस्तुत किया। इस दिशा में कुछ महत्वपूर्ण उपन्यास हैं- दरमियाना (सुभाष अखिल), जिंदगी 50-50 (भगवंत अनमोल), गुलाम मंडी (निर्मला भुराड़िया), तीसरी ताली (प्रदीप सौरभ), किन्नर कथा व मैं पायल... (महेंद्र भीष्म), तीसरे लोग (गीतांजलि चटर्जी), यमदीप (नीरजा माधव), आदि। इन कृतियों ने किन्नर समुदाय की अनदेखी संवेदनाओं को सामने लाने का कार्य किया।

इसी प्रकार कहानी विधा भी समाज के विविध पहलुओं को सहजता और संक्षिप्तता में प्रस्तुत करने का सशक्त माध्यम रही है। कथा साहित्य में किन्नरों के जीवन से जुड़ी वास्तविकताओं, उनकी पीड़ा, उपेक्षा और आंतरिक संघर्ष को अनेक कहानीकारों ने लघु कथाओं और संग्रहों में स्वर दिया। इस संदर्भ में किन्नर समाज की लघु कथाएँ (सं. राजकुमार घोटड़, लता अग्रवाल), इस ज़िंदगी के उस पार (राकेश शंकर भारती), मैं फूलमती और हिजड़े (उर्मिला शुक्ल), हम भी इंसान हैं (सं. एम. फिरोज़ खान) जैसे संग्रह उल्लेखनीय हैं।

इन लघु कथाओं में 'गागर में सागर' की तरह जीवन की जटिलताओं को बहुत ही प्रभावशाली ढंग से उकेरा गया है। लता अग्रवाल और राजकुमार घोटड़ जैसे संपादकों की लघु कथाएँ किन्नरों की सामाजिक विडंबनाओं, भेदभाव और उपहास के विरुद्ध करारा व्यंग्य प्रस्तुत करती हैं। इन रचनाओं में किन्नरों की मातृत्व भावना, स्वावलंबन की जिजीविषा, और उनके प्रति समाज की रूढ़ मानसिकता को चुनौती देने की कोशिश की गई है।

साथ ही, आधुनिक हिंदी साहित्य में कथेतर विधाओं, जैसे आत्मकथा और जीवनी, ने भी किन्नर विमर्श को सशक्त मंच प्रदान किया है। आत्मकथा वह विधा है, जिसमें व्यक्ति अपने जीवन के अनुभवों को स्वयं अभिव्यक्त करता है, वहीं जीवनी में किसी और के जीवन-संघर्ष को लेखनी के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। किन्नर समुदाय से संबंधित आत्मकथाओं में मैं हिजड़ा... मैं लक्ष्मी! (लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी) और पुरुष तन में फँसा मेरा नारी मन (मानोबी बंधोपाध्याय) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन आत्मकथाओं में आत्मसंघर्ष, सामाजिक बहिष्कार, आत्मस्वीकृति और अस्मिता की तलाश को भावनात्मक गहराई से व्यक्त किया गया है।

इस प्रकार, हिंदी साहित्य की विविध विधाओं उपन्यास, कहानी और कथेतर गद्यने किन्नर समाज की आवाज़ बनने का कार्य किया है। इन रचनाओं ने समाज के हाशिए पर खड़े समुदाय को केंद्र में लाकर उन्हें मानवीय दृष्टि से समझने और स्वीकारने की दिशा में साहित्यिक समाज को प्रेरित किया है।

इसके अलावा नाटक, सिनेमा और लघु फिल्मों में भी किन्नर पात्र अब केवल हास्य या दया का पात्र नहीं रहे, बल्कि आत्मविश्वासी, स्वाभिमानी और संघर्षशील व्यक्तित्व के रूप में उभरे हैं। यह परिवर्तन साहित्य की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण होता है।

अत: कहा जा सकता है कि भारतीय संदर्भ में किन्नर विमर्श ने न केवल सामाजिक चेतना को जागृत किया है, बल्कि साहित्यिक अभिव्यक्तियों को भी समृद्ध किया है। यह विमर्श एक समावेशी, संवेदनशील और न्यायपूर्ण समाज की दिशा में एक सार्थक प्रयास है।



अपनी प्रगति जाँचें :

प्रश्न संख्या 1. भारतीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किन्नरों को कब 'थर्ड जेंडर' के रूप में मान्यता दी गयी?

प्रश्न संख्या 2. किन्नर विमर्श से जुड़े कुछ लेखकों का नाम उल्लेख कीजिए?

प्रश्न संख्या 3. वृहत शब्दकोश में किन्नर शब्द का अर्थ क्या दिया है?

प्रश्न संख्या 4. 'यमदीप' के रचनाकार का नाम लिखिए।

प्रश्न संख्या 5. लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी ने हिजड़ा शब्द को किस प्रकार परिभाषित किया है?

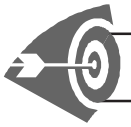


14.7 सारांश

किन्नर विमर्श समकालीन भारतीय समाज और साहित्य में सामाजिक न्याय, लैंगिक समानता और मानवीय गरिमा की पुनर्स्थापना की दिशा में एक महत्वपूर्ण पहल है। यह विमर्श न केवल किन्नर समुदाय की पहचान को स्वीकार करता है, बल्कि उनके अस्तित्व, अधिकारों और सम्मानपूर्ण जीवन की माँग को भी स्वर देता है। भारतीय इतिहास में जहाँ किन्नरों की सांस्कृतिक उपस्थिति रही है, वहीं आधुनिक समय में वे उपेक्षा और भेदभाव का सामना करते रहे हैं।

किन्नर विमर्श ने इस हाशिए पर खड़े समुदाय को मुख्यधारा में लाने का प्रयास किया है। सर्वोच्च न्यायालय के फैसले, कानूनी संरक्षण, और साहित्यिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों ने इस विमर्श को मजबूती प्रदान की है। साहित्य, आत्मकथाओं, नाटकों, फिल्मों और मीडिया के माध्यम से किन्नर जीवन की वास्तविकताओं को सामने लाया गया है, जिससे समाज में संवेदना और जागरूकता का विस्तार हुआ है।

अत: निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि किन्नर विमर्श आज केवल किन्नर समुदाय की पहचान का प्रश्न नहीं है, बल्कि यह एक व्यापक सामाजिक आंदोलन है, जो समानता, समावेशिता और मानवीय अधिकारों की स्थापना हेतु निरंतर कार्यरत है। यह विमर्श हमें एक अधिक न्यायपूर्ण और करुणाशील समाज की ओर ले जाता है।



14.8 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)

प्रश्न संख्या 1. का उत्तर : भारतीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 2014 में किन्नरों को 'थर्ड जेंडर' के रूप में मान्यता दिया गया था।

प्रश्न संख्या 2. का उत्तर : इसे जानने के लिए इकाई को पढ़े।

पश्न संख्या 3.का उत्तर : जानने के लिए इकाई को ध्यान से पढ़े।

प्रश्न संख्या 4. का उत्तर : नीरजा माधव।

प्रश्न संख्या 5. का उत्तर : जानने के लिए इकाई को ध्यान से पढ़े।



14.9 अधिक जानने के लिए पढ़े

- पाठक, डॉ. विनय,किन्नर-विमर्श दशा और दिशा,भावना प्रकाशन,पटपगंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2019.
- डागा, शीला,किन्नर गाथा,वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2020,
- बिश्नोई, मिलन(सं), किन्नर विमर्श साहित्य और समाज,विद्या प्रकाशन, कानपुर, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण 2018
- खान,डॉ. एम. फ़ीरोज़, थर्ड जेंडर कथा आलोचना,अनुसंधान पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, द्वितीय संस्करण 2017
- खान,डॉ. एम. फ़ीरोज़, थर्ड जेण्डर साक्षात्कार के आइने में,विकास प्रकाशन, कानपुर, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण 2020
- वैष्णव पी वी,थर्ड जेण्डर विमर्श,अनुसंधान पब्लिशर्स एण्ड डिस्टीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण 2018
- सिंह, डॉ. विजेंद्र प्रताप(सं),थर्ड जेंडर अस्मिता और संघर्ष,अमन

प्रकाशन, कानपुर, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण 2020,

- नियाज़, डॉ. शगुफ्ता (सं),थर्ड जेंडर के संघर्ष का यथार्थ,विकास प्रकाशन, कानपुर, उत्तर प्रदेश, 2018
- मेहरा, दिलीप,इक्कीसवीं सदी के हिन्दी कथा साहित्य में किन्नर विमर्श,उत्कर्ष पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर,2022
- नियाज, डॉ.शगुफ्ता (सं),थर्ड जेंडर के संघर्ष का यथार्थ,विकास प्रकाशन, कानपुर, संस्करण 2018

14.10 अभ्यास पश्न

क) संक्षिप्त प्रश्न के उत्तर लिखिए :

1. किन्नर विमर्श से आप क्या समझते हैं?
2. भारत में किन्नर समुदाय को 'तृतीय लिंग' की संवैधानिक मान्यता कब और किस निर्णय के तहत प्राप्त हुई?
3. किन्नर विमर्श से संबंधित किसी दो प्रमुख आत्मकथाओं के नाम लिखिए।
4. 'गुलाम मंडी' रचनाकार कौन है?
5. संस्कृत-हिंदी-अंग्रेजी शब्दकोश में किन्नर शब्द को किस प्रकार परिभाषित किया है?

ख) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखिए :

1. किन्नर विमर्श के उद्भव और विकास पर एक आलेख प्रस्तुत कीजिए।
2. किन्नर विमर्श का भारतीय साहित्य में प्रभाव स्पष्ट करते हुए प्रमुख लेखकों और कृतियों का उल्लेख कीजिए।
3. किन्नर समुदाय की समस्याएँ एवं उनके समाधान की दिशा में किन्नर विमर्श की भूमिका पर विचार प्रस्तुत कीजिए।
4. हिंदी साहित्य के विविध विधाओं में किन्नर विमर्श किस प्रकार उजागर किया गया है-अपने शब्दों में लिखिए।
5. किन्नर समुदाय का अर्थ स्पष्ट करते हुए विविध शब्दोंकोशों में दिए गए अर्थ पर चर्चा कीजिए।

******

KRISHNA KANTA HANDIQUI STATE OPEN UNIVERSITY
Headquarter : Patgaon, Rani, Guwahati - 781017, Assam, India
City Office: NH 37, Resham Nagar, Khanapara, Guwahati-781022, Assam, India
Tel. : 0361-2235971 / 2234964, Fax : 0361-2235398
Website : www.kkhsou.in

Printed at : R.R. Graphics, Rajgarh Road, Byelane:03, H.no. 15, Guwahati-781003